ॐ श्री परमात्मने नमः

द्वितीय अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता के पहले अध्याय में तो केवल भूमिका बांधी गयी है। स्थिति की विषमता का ऐसा जीवन्त चित्रण किया गया है कि समान्यतः जो भी व्यक्ति आज के युग में न्याय, धर्म और आदर्श के मार्ग पर चलना चाहता है वह अपनी समस्याओं की साफ झलक अर्जुन की समस्याओं में पाता है। यही गीता की प्रासंगिकता है। गीता आज के युग में भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी छः हजार वर्ष पहले थी, क्योंकि इस पृथ्वी पर अच्छाई और बुराई दोनों सदा ही साथ-साथ रहती आई हैं, बुराई अच्छाई पर हावी भी होती ही रही हैं। गीता तो अच्छाई की बुराई पर विजय का दर्शन प्रस्तुत करती है। आधुनिक युग में तो बुराई इस बुरी तरह से अच्छाई के साथ घुल-मिल गई है कि साधारणतः हम समझ ही नहीं पाते क्या अच्छा है क्या बुरा। बुराई जब अपने नग्न रूप में सामने आती है तो साधारण व्यक्ति भी उससे घृणा करता है लेकिन मुश्किल तो तब आती है जब वह अच्छाई का चोला पहन कर आए। उस समय पहले तो उसे समझना-पहचानना ही कठिन हो जाता है, सामना करना तो बाद की बात है। अर्जुन को भी यही दिक्कत पेश आ रही थी। अतः भगवान पहले तो उसकी दृष्टि साफ करते हैं।

दूसरे अध्याय के प्रथम दस श्लोकों में तो अर्जुन की मनःस्थिति का ही चित्रण है। भगवान का उपदेश ग्यारहवें श्लोक से आरम्भ होता है। यदि हम दृष्टि साफ चाहते हैं ताकि सत् असत् का विवेकपूर्ण निर्णय ले सकें तो सबसे पहले हमें अपने सत्य को जानना होगा। अपने आप को जाने बिना हम कैसे संसार के साथ अपने संबंध का ज्ञान कर पाएँगे? हमारी असलियत यह है कि हम सत्-चित्-आनंद स्वरूप परमात्मा ही हैं- अजर, अमर, अविनाशी, निष्कलुष और चिन्मय। इन सबके लिए एक संज्ञा शब्द उपनिषदों में प्रयुक्त है- 'ब्रह्म'। ब्रह्म से अपनी पहचान कराना ही उपनिषद् और गीता का उद्देश्य है और इसके लिए अनेक उपाय बताए गए हैं जिन्हें योग कहते हैं। वैसे तो दान योग, तप योग, हठ योग आदि भी योग साधन है पर मुख्यतः साधना के

तीन अंग–ज्ञान, भक्ति, और कर्म योग हैं। इनके अलावा संन्यास योग भी एक आवश्यक अंग है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म योग के विषय में अनेक भ्रांतियां हैं। कोई कर्म को श्रेष्ठ मानता है तो कोई ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हुए समझता है कि भक्ति का पथ तो केवल उनके लिए है जिनमें इतनी बुद्धि ही नहीं कि शास्त्र के मर्म को समझ सकें। वास्तव में ऐसी बात नहीं। ये तीनों पथ एक–दूसरे से अभिन्न हैं। शरीर के द्वारा साधना करना कर्म योग, मन को साधना में लगाना भक्ति योग तथा बुद्धि को परमात्म चिन्तन में रत करना ज्ञान योग है। हम सभी को शरीर, मन, बुद्धि तीनों ही मिले हैं। इन तीनों के सामर्थ्य के अनुसार हमें तीनों योगों का अभ्यास करना है। ज्ञान, भक्ति और कर्म योग का सामंजस्य हमें गीता, विशेषकर इसके दूसरे अध्याय में मिलता है। इसमें ११ से ४६वें श्लोक तक ज्ञान योग, ४७ से ६०वें श्लोक तक कर्म योग, ६१ से ७०वें श्लोक तक भक्ति योग तथा ७१ और ७२वें श्लोक में संन्यास योग का निरूपण है। इस प्रकार दूसरे अध्याय में हमें सम्पूर्ण गीता का परिचय मिलता है।

प्रथम अध्याय की समाप्ति तक हमने देखा कि विषाद में डूबा हुआ अर्जुन काफी समय तक हिस्टीरिया के दौरे से ग्रस्त रोगी की तरह प्रलाप करता रहा और अंत में धनुष त्याग कर बैठ गया। भगवान चुपचाप सुनते रहे। अर्जुन ने अब तक भगवान से दिशा निर्देश मांगा नहीं है, वह तो अपना निर्णय सुनाता रहा है– मैं लड़ने को उचित नहीं मानता, मैं नहीं लडूंगा। जब तक कोई उपदेश सुनना न चाहे, उसे सुना कर कुछ लाभ नहीं।

अपने को परम बुद्धिमान समझने वाला उपदेश सुनने तब तक प्रस्तुत नहीं होता जब तक विषाद से उसकी बुद्धि की लाठी चरमरा न जाए। अर्जुन के विषाद को इस चरम बिन्दु तक पहुचाना आवश्यक था इस लिए भगवान उसे एक बार छेड़ते हैं। संजय यह वर्णन धृतराष्ट्र को सुनाते हुए कहते हैं–

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

जो कायरता से आविष्ट था, जिसकी आंखें अश्रु से भरी हुई थीं और जो विषादमग्न था उस अर्जुन से मधुसूदन ने ये वाक्य कहे-

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्री भगवान बोले- हे अर्जुन, इस विषम अवसर पर तुम्हें यह कायरता कहां से प्राप्त हुई जो आर्योचित नहीं है, जो स्वर्ग देने वाली नहीं है और कीर्ति देने वाली भी नहीं है।

अर्जुन केवल जन्म से ही नहीं बल्कि स्वभाव से भी सच्चा क्षत्रिय था जिसके लिए युद्ध में वीरगति को प्राप्त होने से बढ़ कर कुछ नहीं। अभी कुछ देर पहले तक उसके रोम-रोम से उत्साह फूट रहा था, उसके स्वर में सिंह की सी गर्जना थी- देखूं कौन मेरे साथ लड़ने को खड़ा हुआ है? और वही अर्जुन, अब शोकमग्न हो कायरतापूर्ण बातें कर रहा है। भगवान आश्चर्य प्रकट करते हैं, 'अर्जुन ऐसी कायरता तुममें कहां से आई जो अनार्य, अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर है!'

आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ। श्रेष्ठ पुरुष वही करते हैं जिसमें उनका कल्याण निहित है। वे कर्त्तव्य से कभी च्युत नहीं होते। अन्यायियों से युद्ध करना अर्जुन का कर्त्तव्य था, उसी में उसका कल्याण था अतः युद्ध से पीछे हटना श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण नहीं।

इनसे कुछ निम्न श्रेणी के लोग वे होते हैं जो परलोक सुधारने अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति के लिए धर्म के मार्ग पर चलते हैं। किन्तु कायरतापूर्वक युद्ध से भागने से परलोक भी नहीं सुधर सकता।

सबसे साधारण व्यक्ति वे होते हैं जो इसी संसार में अपनी कीर्ति, मान, बड़ाई के लिए कार्य करते हैं लेकिन अर्जुन का सम्मान तो उसकी वीरता के कारण था। कायरता उसे इस लोक में भी कीर्ति नहीं दिला सकती थी।

भगवान द्वारा छेड़े जाने पर भी अर्जुन पर जब कोई असर नहीं होता

तब वे उसका उत्साहवर्द्धन करने के लिए एक तीखी फटकार लगाते हैं-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

हे पार्थ! तुम इस नपुंसकता को प्राप्त मत होओ, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। हे परंतप! अपने हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर उठो।

जिस गुडाकेश गांडीवधन्वा अर्जुन को ललकार कर कोई बच नहीं सकता था उसे भगवान एक ही श्लोक में जहां परंतप अर्थात् शत्रुओं का नाश करने वाला कहते हैं वहां नपुंसक भी कहते हैं। वैसे भी अर्जुन एक वर्ष तक नपुंसक के रूप में रह चुका था। इसलिए यह शब्द उसके लिए जहर बुझे तीर के समान होगा। श्रीकृष्ण, जो अब तक शान्त और चुप थे, अचानक जब बोलना आरम्भ करते हैं तो इतने तीखे व्यंग्य बुझे शब्द! वास्तव में अर्जुन ऐसी स्थिति में पहुंच चुका था कि उसे समझाने-बुझाने का कोई असर ही नहीं होता। वह अपने तर्कों से स्वयं इतना प्रभावित था कि समझने को तैयार ही नहीं था, उसने अब तक अपने मन की लगाम श्रीकृष्ण को सौंपी ही नहीं थी, केवल फैसला सुनाया था कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। भगवान ने एक-एक शब्द सोच-समझकर चुना है कि सीधे हृदय की गहराई तक प्रवेश कर जाए और अर्जुन को उद्वेलित कर दे।

भक्ति के मार्ग में यह कहा जाता है कि जब तक हम भगवान को ही अपने तर्क देते रहते हैं, अपने विचारों भावनाओं और आकांक्षाओं को सही ठहराते रहते हैं तब तक वे मूक बने रहते हैं लेकिन वही भक्त जब दीन बन कर आँखों में आंसू भरे भगवान के सामने घुटने टेक देता है तो वे करुणावरुणालय बिना पुकारे ही दौड़े-दौड़े आते हैं और उसे विषाद और निराशा के अन्धकार में दिव्य ज्योति दिखाते हैं। जिसका तादात्म्य बुद्धि के साथ है, वह तो अपने आत्मस्वरूप को चिंतन, मनन, निधिध्यासन द्वारा स्वयं जान सकता है लेकिन जिसका तादात्म्य मन से है उसे तो प्रभु का सहारा चाहिए। भगवान की कृपा की वर्षा भी जब भक्त पर होती है, तो जैसा हम यहां देख रहे हैं पहले तूफान लेकर आती है। भक्त को तब वह करुणा कम निष्ठुरता अधिक लगती है।

इसी आंच में तप कर जब वह परिपक्व होता है, तब उसको नियति की क्रूरता में ईश्वर की कृपा का दर्शन होने लगता है। भगवान श्रीकृष्ण इन चुभते हुए शब्दों का प्रयोग इसीलिए करते हैं कि इनकी चिंगारी अर्जुन के हृदय में लज्जा की आग जला दे और अर्जुन की विकृत मानसिकता उसमें जल कर भस्म हो जाए। व्यंग्य करते हुए ही वे कहते हैं- 'तुम तो बड़े सूरमा हो, उठो।'

अर्जुन उठा तो नहीं पर इन शब्दों की कुछ प्रतिक्रिया अवश्य हुई। उसने कहा-

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

हे मधुसूदन, मैं भीष्म और द्रोण से वाणों से कैसे युद्ध करूं? हे अरिसूदन वे तो मेरे लिए पूजनीय हैं।

भगवान श्रीकृष्ण की बात से अर्जुन उत्तेजित हो उठा। साथ ही उसके उद्विग्न मन को युद्ध न करने का एक और तर्क याद आ गया। उसने कहा-''मेरे सामने पितामह और आचार्य हैं जिनकी मुझे पुष्पों से पूजा करनी चाहिए और आप कहते हैं उनपर बाण चलाऊं! युद्ध करूं! यह कैसा उपदेश है?''

यहां अर्जुन ने श्री कृष्ण के लिए पहले मधुसूदन फिर अरिसूदन अर्थात् मधु दैत्य और शत्रुओं का संहार करने वाले नाम का प्रयोग किया है। ''आपने बड़े-बड़े दैत्यों और दुश्मनों को मारकर बड़ा नाम कमाया है, आप स्वयं को वीर समझते हैं और मुझे कायर। लेकिन आपके वे सब शत्रु असुर या दुष्ट प्रकृति के थे। मेरे सामने भी यदि वैसे शत्रु आ जाएं तो मेरा गाण्डीव उनका सर एक क्षण में अलग कर देगा लेकिन मेरे यहां तो मेरे पूजनीय पितामह और आचार्य खड़े हैं इसलिए मैं युद्ध नहीं करना चाहता। मैं कायर नहीं हूं, नपुंसक नहीं हूं।''

पितामह और आचार्य को देखकर युद्ध से विमुख होना एक कमजोर

मन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। अधिकांश लोगों को अर्जुन का यह विचार शत प्रतिशत सही लगता है पर गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन प्रकट हो जाता है।

युद्ध किसी व्यक्ति का व्यक्ति से नहीं होता, युद्ध किसी व्यक्तिगत हानि या लाभ के लिए नहीं होते, युद्ध में सिद्धान्त टकराते हैं, धर्म-अधर्म, नेकी-बदी की लड़ाई होती है। युद्ध सेनाएं लड़ती हैं, व्यक्ति नहीं। अर्जुन को अपने-आप को पाण्डव सेना से अलग समझने का कोई हक नहीं था। युद्ध अर्जुन और पितामह के बीच नहीं था, पाण्डव और कौरव सेना के बीच था। युद्ध अर्जुन को राजा बनाने के लिए नहीं लड़ा जा रहा था बल्कि न्याय और धर्म के सिद्धान्तों पर लड़ा जा रहा था। और फिर जिस प्रकार अर्जुन के लिए वे पूज्य थे उसी प्रकार उनका भी तो अर्जुन सर्वाधिक प्रिय पौत्र, सबसे प्यारा शिष्य था, उनके मन में यह बात क्यों नहीं आई कि अपने बच्चे को कैसे मारें? ऐसा इसलिए कि उनके सामने एक ही धर्म था- सैनिक धर्म, अर्थात् युद्ध में जिस ओर से खड़े हैं उसकी जीत के लिए प्राणों की बाजी लगा देना। उनका कौरव सेना में होना उचित था या नहीं यह अलग विवेचना का विषय हो सकता है लेकिन युद्ध के समय प्रतिपक्ष के किसी व्यक्ति को महत्व की दृष्टि से देखना कदापि धर्म नहीं। इसी सैनिक धर्म के अन्तर्गत तो श्री कृष्ण की नारायणी सेना अपने स्वामी के प्रतिपक्ष में खड़ी थी। उन सबने अपनी अहंता को कौरव सेना के साथ एक कर लिया था। जब हम अपनी अहंता से ऊपर उठकर किसी बड़े क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तथा एक समाज, देश या विश्व के नजरिए से सोचते हैं तो बहुत सी समस्याएं और अन्तर्द्वन्द्व अपने आप विगलित हो जाते हैं। लेकिन अर्जुन को ममता और अहंता का रोग लग गया था। अर्जुन का प्रलाप जारी है-

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

महानुभाव गुरुजनों को मारने की अपेक्षा तो भिक्षा का अन्न खाना अच्छा है। अर्थ और काम के लिए गुरुजनों को मार कर जो भोग मैं भोगूंगा वो तो रक्त से सने हुए होंगे।

पूरी कौरव सेना के बड़े-बड़े महारथियों ने अर्जुन को जरा भी व्याकुल नहीं किया लेकिन इन दोनों महानुभावों को देखकर तो अर्जुन की सारी हिम्मत जवाब दे रही है।

वास्तव में बुराई जब बुराई के रूप में आती है तब उससे लड़ना आसान होता है लेकिन बुराई जब भलाई का लबादा ओढ़कर आती है तो आदमी को विमूढ़ बना देती है, वह अपने कर्तव्य को ठीक-ठीक निश्चित नहीं कर पाता। 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इसके साथ कैसा सलूक करना चाहिए लेकिन. ..' यह 'लेकिन' न तो उसे कुछ करने देता है न किए बिना चैन से बैठने देता है। व्यक्ति हाथ मलते हुए अपने सामने अर्थ का अनर्थ होते देखता रहता है, मन को मसोसता रहता है। इसी अवस्था को विषाद कहते हैं और हम सभी जीवन के अनगिनत मोड़ों पर इसी दुविधाजन्य विषाद के शिकार होते हैं। अर्जुन का यह रोग अब चरम बिन्दु पर पहुंच रहा है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताःप्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

यह हम भी नहीं जानते कि हमलोगों के लिए युद्ध करना श्रेष्ठ है या न करना हमें इसका भी पता नहीं है कि हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे धृतराष्ट्र पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

क्या करूं क्या न करूं, यह करूं तो भी मुश्किल वह करूं तो भी मुश्किल- ये सब जो द्विविधायें हैं वे मनुष्य मन को गहरे तक मथ डालती है, वह अपनी समझ में तो समस्या का आकलन करना चाहता है, परिस्थितियों को तौल-परख कर सही कदम बढ़ाना चाहता है। लेकन हर राह पर अंधेरा ही अंधेरा दिखता है। अंत में मन थक जाता है और बुद्धि स्वीकार कर लेती है कि मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा।

हमारे अंतःकरण में यह जो मन है, उसकी भूमिका बड़ी विचित्र है। यह कुछ न करके भी बहुत कुछ करता है। शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गंध आदि जो भी हमारी इन्द्रियां इस जगत से ग्रहण करती है उसी के अनुसार हमारी

बुद्धि को निर्णय लेना होता है। साधारण कम्प्यूटर में हम आंकड़े देते हैं और उन आंकड़ों के अनुसार कम्प्यूटर अपना निर्णय देता है लेकिन मानव के अंत:करण की रचना भिन्न है। इन्द्रियों द्वारा एकत्र किए गए आंकड़े सीधे बुद्धि तक नहीं पहुचते बल्कि मन से होकर गुजरते हैं। मन उनका एक सम्मिलित रूप बुद्धि के सामने प्रस्तुत करता है। यहीं मन के खेल दिखने लगते हैं, वह अपने मूड के अनुसार तथ्यों को तोड़-मरोड़ देता है और बुद्धि तब जो निर्णय लेती है वह गलत हो जाता है। मन ने जैसे ही भीष्म में पितामह और द्रोणाचार्य में गुरु को देखा, बस अर्जुन ने निर्णय दिया-लड़ना उचित नहीं। किन्तु उसकी बुद्धि जीवन भर अन्याय के प्रतिकार की ही बातें सोचती रहती थी इसलिए वह इस निर्णय को हठात् स्वीकार भी नहीं कर पाता। लेकिन इस उलझन में अर्जुन की बुद्धि ने एक सही निर्णय लिया- भगवान की शरणागति का। विषादयुक्त अर्जुन ने शरणागत होते हुए ये वचन कहे-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितंब्रूहितन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वांप्रपन्नम्।।७।।

मेरा स्वभाव कायरता के दोष से हत है, मेरी बुद्धि धर्म के विषय में मूढ़ हो गई है। मैं आपसे पूछता हूं, मेरे लिए जो निश्चित श्रेयस्कर हो वही कहिए। मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण में हूं, मुझे शिक्षा दीजिए।

इस श्लोक में अर्जुन ने अपनी मूढ़ता को भली भांति पहचान लिया है, अपनी समझ से उसने कारण भी बता दिया है कि यह कायरता है, लेकिन वह ठीक-ठीक समझ नहीं पाया कि वास्तविक कारण मोह है।

अर्जुन स्वीकार करता है कि धर्म-अधर्म का निर्णय देने वाली उसकी बुद्धि (चेतस्) काम करना बंद कर चुकी है। वह अपनी वर्तमान जड़ता की स्थिति में कुछ भी निर्णय लेने में असमर्थ है इसलिए वह तीन बातें कहता है- मैं आपका शिष्य हूं, मैं आपकी शरण में आया हूं, मुझे निश्चित रूप से वही कहिए जो मेरे लिए कल्याणकारी (श्रेयस्) है। हमारी बुद्धि भी जब दिग्भ्रमित हो जाए तो हमें यही करने की आवश्यकता है। पहली बात यह कि शरण लें तो भगवान की और दूसरी यह कि कितनी भी जड़ता की स्थिति

क्यों न आ जाए, मार्ग ढूंढ़े तो तो कल्याण का, श्रेय का, न कि प्रेय का।

जीवन के हर मोड़ पर दोराहे हैं, एक श्रेय मार्ग है एक प्रेय मार्ग। श्रेय मार्ग देखने में अनाकर्षक, शायद दुर्गम, दुरूह भी किन्तु उसका अन्त हमारा कल्याण ही है। प्रेय मार्ग देखने में प्रिय अर्थात् सरल, आकर्षक, शार्टकट लगने वाला होता है लेकिन उसकी अंतिम गति कभी अच्छी नहीं हो सकती। पर यह इतना आकर्षक होता कि मन जहां जरा भी दुर्बल हुआ उसे अपनी ओर खींच लेता है।

तार्किक दृष्टि से हम सभी जानते हैं कि बुरे कर्म का फल अच्छा नहीं हो सकता लेकिन फिर भी कपट बेइमानी आदि का सहारा ले ही लेते हैं। कुछ लोग तो स्वभाव से ही राक्षसी वृत्ति के होते हैं जिन्हें बुराई में ही आनन्द आता है लेकिन साधारण मानव अच्छाई-अच्छाई की बातें सोचता या करता रहता है लेकिन जब उसके सामने ऐसा अवसर आता है कि जरा कपट या बेईमानी से बहुत अधिक लाभ होता नजर आए या काम सरलता से बनता नजर आए तो तात्कालिक लाभ का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि भविष्य के कल्याण की बात उसके दिमाग में आती ही नहीं- ''भविष्य किसने देखा है?'' बस वह श्रेय को छोड़ प्रेय का मार्ग पकड़ लेता है। नतीजा- हम में से कौन सुखी है?

तात्पर्य यह कि श्रेय मार्ग पर चलने में कष्टों का सामना करने धैर्य और दृढ़ता चाहिए। यह दृढ़ता शरणागति से आती है। दुर्बल मानव मन और फिर कष्ट-समस्याएं! चोरी, झूठ, कपट का भी सहारा नहीं तो किसी का तो सहारा चाहिए। सहारा देने वाला जितना सबल, शक्तिवान होगा उतनी ही हममें निश्चिंतता आती है। फिर क्यों न उनकी शरण में जाया जाए जो स्वयं शक्तिशाली व्यक्तियों की शक्ति हैं। युधिष्ठिर और अर्जुन ने कई बार बड़ी विकट प्रतिज्ञाएं कर डाली थीं और भगवान ने ही कौशल कर उनकी प्रतिज्ञाओं को पूरा किया। सूर्यास्त तक जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा क्या अर्जुन ने अपने बाहुबल पर की थी? उसका तो सबसे बड़ा बल यही था कि मेरे सारथि श्री कृष्ण हैं। यही वह शरणागति थी जिसके बल पर विजयश्री ने उनका आलिंगन किया।

महाभारत की कथा का एक बड़ा विवादास्पद मुद्दा है श्रीकृष्ण के द्वारा छल-कपट का सहारा लेकर, युद्ध के नियमों को ताक पर रख कर,

अर्जुन द्वारा कर्ण, जयद्रथ, द्रोणचार्य आदि का वध करवाना। इसका मतलब यह नहीं हमें समझना चाहिए कि भगवान यह बताना चाहते हैं कि हमें छल-कपट का सहारा लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। गौर करें कि अर्जुन या युधिष्ठिर ने स्वयं कभी छल नहीं किया। विषम से विषम परिस्थिति में वे धर्म से च्युत होने कभी तैयार नहीं होते थे। यहां तक कि श्रीकृष्ण के कहने पर भी एक बार तो साफ इन्कार कर देते थे। यह कथा हमें यह बताती है कि जो व्यक्ति विकट परिस्थिति में भी धर्म की राह नहीं छोड़ता, भगवान उसी की सहायता करते हैं, उसके लिए वे स्वयं कलंकित तक होने को तैयार हैं। भक्त को पाण्डवों की भांति कष्ट तो भोगना पड़ सकता है लेकिन उसका कल्याण अवश्य होगा।

अर्जुन द्वारा कहे गए अगले वाक्य में यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन का क्लेष धर्म-अधर्म को न समझ पाने का था। वह राज्य और सत्ता के लिए चिंतित नहीं था।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

पृथ्वी पर समृद्ध और निष्कण्टक राज्य तथा स्वर्ग में देवताओं का आधिपत्य भी मिल जाए तो भी इन्द्रियों को सुखाने वाला मेरा जो शोक है वह दूर हो जाएगा- ऐसा मैं नहीं देखता हूं।

इस प्रकार वेद व्यास जी ने एक ऐसे शिष्य का चित्र प्रस्तुत किया है जिसे सांसारिक सुखों की नहीं बल्कि कल्याण की चिन्ता है और इसी से इतना अधिक व्याकुल हो गया है कि उसकी इन्द्रियां तक मानों जल रही है और वह 'श्रेयस्' के प्रश्न के साथ ऐसे गुरु की शरण लेता है जो ज्ञान का स्वरूप होने के साथ-साथ परम सुहृद भी है। अर्जुन भले ही किंकर्तव्य विमूढ़ है पर इतना वह निश्चित रूप से जानता है कि उसकी व्याकुलता सत्ता, राज्य या धन के लिए नहीं है, धन धान्य सम्पन्न राज्य या स्वर्ग लोक की सत्ता भी उसका दुख दूर नहीं कर सकती। जो विषाद के गहनतम क्षणों में भी अपने विवेक को खोता नहीं भगवान का अनुग्रह उसी पर होता है। संजय कहते हैं-

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

शत्रुओं का नाश करने वाले निद्राविजयी अर्जुन ने गोविन्द से कहा 'मैं युद्ध नहीं करूंगा', और चुप हो गए।

इस श्लोक से पता चलता है कि यद्यपि अर्जुन पहले से ही भगवान को अपना परम सुहृद मानता ही था और अभी-अभी यह भी कह चुका है कि मैं आपकी शरण में हूं, फिर भी युद्ध करने की बात उसे अपने मन में इतनी बुरी मालूम देती है कि कह देता है- मैं युद्ध नहीं करूंगा।

जैसे कहा जाता है कि पंचों की बातें सिर माथे, पर यह खूंटा तो यहीं गाड़ा जाएगा। यदि वास्तव में शरण ले ली जाए तो होना तो यह चाहिए कि हम फिर अपनी बल बुद्धि लड़ाना बंद कर जैसे हमारा शरणदाता कहे वैसे ही करें। इससे यह भी आभास होता है कि अर्जुन की शरणागति पूर्ण नहीं थी- तभी तो पूरी गीता के बाद अंतिम श्लोक में भगवान उसे कहते हैं- अर्जुन धर्म अधर्म की सारी उलझनों को त्याग कर तू मेरी शरण में आ जा। तब जा कर अर्जुन की शरणागति की भावना परिपक्व होती है और वह श्रीकृष्ण की बात मानते हुए युद्ध के लिए तत्पर हो जाता है।

यही भगवान की करुणा है। इस बात में हम साधारण साधकों के लिए संदेश छुपा है। संतों की बातें सुन कर शरणागति का पथ हम अपनाना चाहते हैं लेकिन प्रारम्भिक अवस्था में यह भाव पूरी तरह पुष्ट तो होता नहीं और हम निराश हो जाते हैं कि कुछ लाभ नहीं होने वाला, लेकिन ऐसी बात नहीं। हम अर्जुन को देखें। भले उसने शरणागति पूरी तरह ग्रहण न की है, लेकिन एक बात निश्चित है कि श्रीकृष्ण से अधिक महत्व उसने किसी को नहीं दिया तथा स्वार्थ का मार्ग अपनाना नहीं चाहा। ये गुण जिसमें है उसे तो एक बार यह भाव पुष्ट करने की जरूरत है कि 'मैं तुम्हारी शरण में हूं' इसके बाद शरणागति को पूर्णता दिलाने और फलित करने का जिम्मा भी करुणावरुणालय भगवान का ही है। शरणागति का भाव मन में जागना ही बहुत बड़ी बात है, फिर तो यदि अर्जुन की भांति हमारे मन में कल्याण की कामना

और भगवान के प्रति प्रेम है तो वे स्वयं हमारे इस भाव को पुष्ट करने की योजना बनाएंगे। अतः साधक को कभी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए न यह सोचना चाहिए कि शरण में जाने के लिए क्या करें, क्या न करें, न इस बात की चिन्ता करें कि यह भाव दृढ़ होता क्यों नहीं, इसे भी परमात्मा पर ही छोड़ दें।

अर्जुन के चुप होने के लिए संजय यहां 'तूष्णी भाव' शब्द का प्रयोग करते हैं। जब किसी खतरनाक धक्के से व्यक्ति ऐसा स्तब्ध हो जाता है कि उसकी बुद्धि के साथ-साथ शरीर भी जड़ हो जाता है तो उसे तूष्णी भाव कहते हैं। अब श्रीकृष्ण समझते है कि उपचार का वक्त आ गया है।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।

दोनों सेनाओं के मध्य विषाद से युक्त अर्जुन को हृषीकेश ने हंसते हुए से ये शब्द कहे-

इस श्लोक में महाभारत की विषम स्थिति एक बार फिर चित्रित की गई है और इसका सबसे महत्वपूर्ण शब्द है- प्रहसन्निव अर्थात् 'हंसते हुए से।'

जरा श्रीकृष्ण की स्थिति पर गौर करें। एक निर्देशक महीनों से किसी नाटक की तैयारी कर रहा है। सब कुछ तैयार है, सभी पात्रों ने अपने-अपने वेश धारण कर लिए है, हॉल दर्शकों से भरा हुआ है, परदा उठ चुका है, नाटक की घोषणा तक की जा चुकी है और अब यदि अचानक नायक हाथ-पैर ठंडे कर पड़ जाये, अपना रोल करने को तैयार न हो, करने लायक अवस्था में ही न हो, तो क्या हम इस स्थिति में कल्पना कर सकते है कि निर्देशक के चेहरे पर मुस्कान की हल्की-सी रेखा भी आएगी?

किन्तु हमारे भगवान श्रीकृष्ण युद्ध की घोषणा के बाद नायक के हाथ-पैर फूले देखकर भी प्रसन्नचित्त हैं। उनके चेहरे पर सदा विराजमान रहने वाली मुस्कान एक क्षण के लिए भी फीकी नहीं पड़ती। यही उनका समत्व है और यहीं जीव और ईश्वर का भेद स्पष्ट हो जाता है।

श्रीकृष्ण बाह्य स्वरूप में मानव की भांति ही थे लेकिन वे अपने आनंद स्वरूप में भी सदैव प्रतिष्ठित है इसलिए वे सच्चिदानंद (सत् चित् आनंद) हैं। वे नारायण हैं और अर्जुन नर है। वे अमर हैं और अर्जुन नाशवान है। वास्तव में परिस्थितियों का आत्मविश्वास पर हावी होना ही मृत्यु है और आत्मविश्वास का परिस्थितियों पर हावी होना अमरता है। श्रीकृष्ण अमर हैं और आनंद स्वरूप हैं। इसीलिए गीता में श्रीकृष्ण उवाच नहीं कहकर श्री भगवानुवाच कहा गया है। इस समय वे यशोदा मैया की गोदी में कन्हैया के रूप में या रुक्मिणी के साथ द्वारिकाधीश के रूप में लीला नहीं कर रहे। इस समय उनका परमात्म स्वरूप पूर्णतः प्रतिष्ठित है।

भगवान की मुस्कान का एक पहलू और है। मान लीजिए हमारे घर में कोई बीमार पड़ा। कई तरह की एंटीबायटिक्स दी गईं, कोई लाभ नहीं हुआ। हालत बिगड़ती जा रही है। जैसे अर्जुन को लग रहा था कि उसका शोक पृथ्वी क्या सुरलोक का राज्य अर्थात् कोई भी उपाय नहीं मिटा सकता,उसी प्रकार हमें लग रहा है कि कोई भी इलाज इस हालत में अब सुधार नहीं ला सकता। तब हम शहर के सबसे अनुभवी 'स्पेशलिस्ट' को बुलाते हैं। वह आता है, मरीज की जांच करता है और फिर हंसते हुए बताता है, 'अरे यह तो मलेरिया है।' क्या मलेरिया का रोग हंसने, खुश होने की बात है? डाक्टर हंसता है इसलिए कि उसने रोग को ठीक-ठीक पहचान लिया है, उसे दवा भी मालूम है और यह विश्वास भी है कि कुनैन देने से रोगी शीघ्र ही ठीक हो जाएगा। इसी प्रकार भगवान ने अर्जुन की 'डायग्नोसिस' बिलकुल ठीक-ठीक कर ली है और अब वे पूर्ण विश्वास के साथ उपचार के लिए तत्पर हैं। उनका उपचार ही गीता है। श्रीकृष्ण ने उपचार कैसे किया इस पर आने के पहले रोग और उपचार सम्बंधी कुछ बातें और समझ लें।

एक व्यक्ति बुखार की शिकायत लेकर डाक्टर के पास जाता है। डाक्टर उसे दवा देता है। बुखार तो एक दिन में ठीक हो जाता है लेकन अक्सर उल्टी होने लगती है। डाक्टर कहता है- हां, इस दवा के असर से अक्सर ऐसा होता है, तुम फलां दवा खाओ, ठीक हो जाएगा। दूसरी दवा से उल्टी की शिकायत तो दूर हो जाती है पर पेट में दर्द शुरू हो जाता है। इस प्रकार केवल लक्षणों के आधार से दवा देने से तात्कालिक फायदा हो जाता है पर समस्या हल

नहीं होती। वहीं एक अनुभवी डाक्टर मात्र ऊपरी लक्षणों को न देख रोग की जड़ मालूम करने की कोशिश करता है, तब सही दवा लगती है और रोग से मुक्ति मिलती है। यहां जगद्गुरु श्रीकृष्ण अपने शिष्य के रोग को जड़ से मिटाने वाले हैं। वे जानते हैं कि अर्जुन के रोग का वास्तविक कारण अज्ञान है।

किसी भी एक वस्तु को देखने के अलग-अलग नजरिये हैं- दैहिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक। जैसे एक लड़का अपने पड़ोसी की लड़की को देखता है। दैहिक रूप से वह एक लड़की है। किंतु वह उसे प्यार करने लगे तो उसका दृष्टिकोण भावनात्मक हो जाता है। प्रेमिका के रूप में वह बिल्कुल दूसरी ही दिखाई देती है। बौद्धिक रूप से वह अस्थि चर्म का पिण्ड मात्र है और जब हम उसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखेंगे तो हम कहेंगे- ''जो मैं हूं वही वह है।''

इस प्रकार दृष्टिकोण बदलने से सब कुछ बदल जाता है। भगवान यही चाहते हैं कि अर्जुन युद्ध की सारी योजनाओं को भावनात्मक नहीं बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से देखें। तब उसे समझ आएगा कि जिन्हें वह पितामह समझता है वे वास्तव में क्या हैं। जिस मृत्यु के भय से वह इतना व्याकुल है वह वास्तव में क्या है। इस प्रकार सत्य का ज्ञान ही उसके शोक का निवारण कर सकता है।

इसीलिए भगवान अर्जुन को सत्य का ज्ञान कराते हैं। उनका उपदेश आत्मा की अनश्वरता, देह की नश्वरता तथा शरीर-आत्मा के सम्बंध आदि से ही आरंभ होता है।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

तुम उनके लिए शोक कर रहे हो जिनके लिए करना नहीं चाहिए और बुद्धिमानों की भांति बातें कर रहे हो। जो बुद्धिमान होते हैं, वे न जीवित के लिए शोक करते हैं, न मृतकों के लिए।

इस श्लोक से गीता का उपदेश आरंभ होता है। दूसरे अध्याय अर्थात् गीतोपदेश के आरंभिक अध्याय में ही भगवान ने दर्शन के उच्चतम सिद्धान्तों का निरूपण किया है। सांसारिक ज्ञान देने वाले विद्यालयों में शिक्षा की शुरुआत 'क ख ग' से होती है लेकिन अध्यात्म जगत में ऐसा नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि छोटा बच्चा जब स्कूल जाता है तो नितांत अज्ञानी होता है और अपने को अज्ञानी मानता भी है, लेकिन अध्यात्म ज्ञान का अर्जुन सरीखा शिष्य होता तो अज्ञानी है, पर समझता है अपने आप को बड़ा ज्ञानी, इसलिए यह आवश्यक है कि उच्चतम ज्ञान उसके सामने प्रस्तुत किया जाए जो उसकी चेतना को झकझोर डाले और उसे समझ में आ जाए कि वास्तव में वह कुछ नहीं समझता। इससे अर्जुन की जिज्ञासा जागती है और फिर वह स्वयं एक-एक सिद्धांत से संबन्धित प्रश्न पूछता है, तब भगवान एक-एक अध्याय में विस्तृत विवेचना के द्वारा उसकी शंकाओं का समाधान करते हैं। इस प्रकार दूसरे अध्याय में वस्तुतः गीता का सम्पूर्ण सार है। भक्ति, ज्ञान, कर्म, उपासना आदि हर विषय को श्रीकृष्ण ने छुआ है।

अज्ञानी अर्जुन ज्ञानियों की भांति सिद्धांत की बातें बघार रहा था। परम ज्ञान स्वरूप श्रीकृष्ण को ही समझा रहा था कि युद्ध करना धर्म के विरुद्ध है अतः सबसे पहले तो भगवान इसी के लिए उसे फटकार लगाते हैं कि जो ज्ञानी होते है वे जीने मरने का शोक नहीं करते।

जीव वास्तव में शिव स्वरूप ही है लेकिन वह अपने शिवत्व को नहीं पहचानता और उस पर नाना प्रकार की भ्रमयुक्त बातें आरोपित कर लेता है। उसे लगता है कि उसका शरीर, उसका मन और उसकी बुद्धि ही सब कुछ हैं और वही उसका सत्य है। इसी प्रकार वह दूसरों के शरीर, मन, बुद्धि को उनका सत्य समझता है। फिर शरीर से शरीर, मन से मन और बुद्धि से बुद्धि का संबन्ध या टकराव होता है, इससे किसी का शरीर मन बुद्धि उसे अपना या प्यारा लगने लगता है और किसी का शरीर मन बुद्धि उसे पराया या बुरा लगने लगता है। अपने और अपने प्रिय के शरीर मन बुद्धि की सुरक्षा की चिंता होती है और इस प्रकार वह नाना प्रकार के मोह जाल में फंसता जाता है। इस मोह की परिणति आशा, कामना, आकांक्षा आदि से होती हुई अंततः दुख में होती है। इस प्रकार शोक का कारण अविद्या या अज्ञान है।

इसके विपरीत तत्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुष जीवित या मृतकों के लिए शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

ऐसी बात नहीं है कि कोई ऐसा समय था जब तू, मैं और ये राजा लोग नहीं थे, न ही बाद में कोई ऐसा समय आएगा जब हम सब नहीं रहेंगे।

पिछले श्लोक में भगवान् ने कहा था कि ज्ञानी पुरुष जीने मरने वालों के लिए शोक नहीं करते, तो क्या वे पत्थर दिल हैं? नहीं। उन्हें शोक क्यों नहीं होता? इसका उत्तर भगवान इस श्लोक में देते हैं कि वे जानते हैं कि जीव का सत्य स्वरूप अविनाशी अमर और अजन्मा है।

भगवान कहते हैं कि मैं, तू और ये राजा लोग पहले भी थे, और बाद में भी रहेंगे, अभी तो हैं ही, अतः उसे बताने की आवश्यकता नहीं। यहीं से शरीर का तत्व विवेचन आरम्भ हो जाता है।

प्रत्येक प्राणी के दो तत्व हैं, शरीर और आत्मा। शरीर तो जीवन और मृत्यु तो क्या, इसके बीच भी प्रतिपल बदलता रहता है फिर भी यदि हम कहते हैं कि मैं तो वही हूं जिसने फलां दिन फलां की कोख से जन्म लिया था तो इसका अर्थ है कि हम 'मैं' शब्द के द्वारा अपने शरीर को नहीं बल्कि 'कुछ और' को इंगित कर रहे हैं जो इतने वर्षों में बदला नहीं। यही अपरिवर्तनशील तत्व हमारा वास्तविक स्वरूप है- इस शरीर में रहने वाला शरीरी, जिसे हमारे शास्त्रों में 'आत्मा' नाम दिया गया है। यह आत्मा ही है जिसके कारण हम अपने शरीर तथा अपने जीवन के प्रति चैतन्य हैं वर्ना यह तो सभी जानते हैं कि शरीर तो कैल्शियम, फासफोरस, कार्बन आदि निर्जीव तत्वों से ही बना है। ये निर्जीव पदार्थ मिलकर सजीव प्राणी का निर्माण कैसे कर सकते हैं इसका उत्तर वैज्ञानिकों के पास नहीं। विज्ञान जहां रुक जाता है वहीं से शास्त्र आरम्भ होते हैं जो कहते हैं कि आत्मा ही शरीर को चेतना प्रदान करती है। मृत्यु होने पर शरीर के इन निर्जीव केमिकल तत्वों में कोई

परिवर्तन नहीं होता फिर भी मनुष्य मर जाता है क्योंकि शरीर से आत्मा निकल जाती है।

वैज्ञानिकों का परिवर्तन का सिद्धांत भी कहता है कि जो कुछ भी देश और काल से बाधित है उसमें परिर्वतन अवश्यम्भावी है। हमने देखा कि हमारा शरीर जन्म लेता है, बदलता है और मरता है, वह स्थान भी घेरता है इस प्रकार यह देश काल से बाधित परिवर्तनशील है। लेकिन हम मानते हैं कि जन्म से मृत्यु तक 'हम' वही रहते हैं अर्थात् हम परिवर्तनशील नहीं। तब हम देशकाल से बाधित भी नहीं हो सकते। यानी यह 'हम' अर्थात् शरीरी या आत्मा न स्थान घेरती है, न जन्म लेती है, न नष्ट होती है। इसी बात को भगवान् इन शब्दों में कहते हैं कि ऐसा कोई समय नहीं जब तू, मैं या ये राजा लोग नहीं थे न ही ऐसा कोई समय आएगा जब हम सब नहीं रहेंगे।

शरीर और शरीरी के संबंध पर और प्रकाश डालते हुए भगवान कहते हैं–

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

जिस प्रकार देही इस देह में बचपन, यौवन और वृद्धावस्था से गुजरता है उसी प्रकार वह दूसरी देह को भी प्राप्त कर लेता है अतः धीर पुरुष शोक नहीं करते।

शरीरी और शरीर का संबंध गृह और गृहपति जैसा है। गृहपति उस गृह में रहते हुए अच्छे बुरे अनुभवों से गुजरता है। मान लीजिए आप गुप्ता जी को खोज रहे हैं। जिस प्रकार हम घरों के दरवाजे खटखटाते हैं उसी प्रकार आप मिलने वाले हर व्यक्ति के कंधों पर हाथ रख कर पूछेंगे–''क्या आप गुप्ता जी है?'' ''कौन गुप्ता जी?'' ''राम शरण गुप्ता।'' अब जो जो व्यक्ति राम शरण गुप्ता नहीं वे सब सॉरी कह कर चल देंगे लेकिन राम शरण गुप्ता के शरीर को खटखटाने पर आपको उत्तर मिलेगा, 'हां कहिए क्या काम है?' यानी राम शरण गुप्ता उस साढ़े पांच फुट के शरीर में निवास करने वाले व्यक्ति

का नाम है। हम सब अपने-अपने शरीर में अस्थायी तौर से रहते हैं। हमें इसका किराया हर महीने नहीं प्रत्येक दिन तीन बार भोजन के द्वारा चुकाना पड़ता है। हमारा मकान मालिक इसमें जरा भी ढ़ील नहीं देता। तीन चार दिन हमने भाड़ा नहीं दिया तो रोशनी गुल हो जाती है। इसका रख रखाव, रंग रोगन भी सभी हमको ही करवाना पड़ता है। जब एक घर में रहते-रहते परिवार बढ़ जाता है या ट्रांसफर हो जाता है, तरक्की हो जाती है, आशय यह है कि वह घर हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता तो हम उसे छोड़ दूसरे घर में चले जाते हैं, इसी प्रकार यह शरीर जब किसी भी ज्ञात-अज्ञात कारणों से आत्मा के निवास के योग्य नहीं रह जाता तब आत्मा उसे छोड़ दूसरे शरीर में चली जाती है। यह समझने वालों को शोक कहां?

हमारा यह शरीर जन्म के समय छोटा-सा अत्यन्त कोमल रहता है। हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का भी ज्ञान नहीं होता। धीरे-धीरे शरीर मन बुद्धि तीनों का विकास होता है और चंचल शरारती बच्चे का रूप उभरता है। बचपन और यौवन के रूप में परिवर्तन होता है, शरारतें, खेल खिलौने सभी पीछे छुट जाते हैं, यौवन की उमंगें, कुछ करने की चाह, आदर्श आदि घुमड़ने लगते हैं, शरीर भी पुष्ट और सबल हो जाता है। फिर वृद्धावस्था आती है। शरीर निर्बल होने लगता है, मन चिन्ता और व्याकुलता में फंसने लगता है, बुद्धि सठिया जाती है।

इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में हमारे शरीर मन बुद्धि में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन ही मृत्यु है। बचपन का अन्त- यौवन का जन्म। यौवन का अन्त- वृद्धावस्था का जन्म। मृत्यु-जन्म का यह खेल हर पल चलता है। हम सब इसे इतनी अच्छी तरह समझते हैं कि बचपन के जाने पर आंसू नहीं बहाते। न ही वृद्धावस्था के जन्म पर उछलते कूदते हैं। हम समझते हैं कि हम तो वही हैं यह तो ऊपरी परिवर्तन मात्र है और यह अवश्यम्भावी है। कुछ होते हैं जो अपने यौवन काल में बचपन की मौज मस्ती को याद करके बिसूरते रहते हैं और वृद्धावस्था में बुढ़ापे को कोसते रहते हैं लेकिन समझदार ऐसा नहीं करते।

इसी प्रकार धीर पुरुष भी मृत्यु का शोक नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि कौमार्य, यौवन, जरा की भांति यह भी देह मात्र का ही एक अवश्यम्भावी

परिवर्तन है। यह ठीक है कि आत्मा की अनश्वरता का ज्ञान हो जाने के बाद हम शरीर की मृत्यु का शोक नहीं करेंगे, लेकिन जब तक आत्मा इस शरीर में है तबतक दु:ख, सुख, कष्ट, आराम तो भोगना ही होगा तब दु:ख की निवृति, सुख की प्रप्ति पर हमें क्या करना चाहिए? भगवान कहते हैं-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।१४।।

हे कौन्तेय, स्पर्श मात्र से ही शीत-उष्ण और सुख-दु:ख की अनुभूति होती है। ये सब आने-जाने वाले, अनित्य हैं, अतएव हे भारत, इन्हें धैर्य के साथ सहन करो।

भगवान कहते हैं कि शीत-उष्ण, सुख-दु:ख का अनुभव स्पर्श मात्र से ही होता है। शीत-उष्ण का अनुभव करने वाली तो त्वचा है, अत: स्पर्श शब्द ठीक है, लेकिन सुख-दु:ख का अनुभव स्पर्श से कैसे? वास्तव में यहां स्पर्श का अर्थ केवल छूना नहीं, बल्कि सम्बन्ध स्थापित करना है। हम कहते हैं कि हम आंख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, लेकिन देखने सुनने वाली इन्द्रियां वस्तुत: आंख-कान नहीं। वास्तव में स्पर्श करने वाला तो मन है जो आंख के माध्यम से देखता है, कान के माध्यम से सुनता है। यदि हमारा मन किसी चीज में उलझा हो तो बिलकुल सामने से गुजर गया आदमी भी हमें दिखाई नहीं देता। सुख-दु:ख का अनुभव मन और वस्तु के स्पर्श से होता है और स्पर्श का माध्यम हैं- इन्द्रियां। जिसे हम देखते नहीं वह वस्तु हमें सुख नहीं दे सकती, जिसे सुनते नहीं वह बात हमें दु:खी नहीं कर सकती। हमारे मन का उस वस्तु या व्यक्ति से जितना घनिष्ट सम्पर्क होगा, सुख-दु:ख भी उतना ही तीव्र होगा।

हम अखबार में पढ़ते हैं- दंगे में बीस लोग मरे। च् च् च् करके फिर चाय पीने लगते हैं। ईरान-इराक के युद्ध में बीस सैनिक मारे गये। हम कहते हैं- आज बस बीस ही। हमारे लिए मृत्यु की ये घटनाएं कुछ भी दु:खदायी नहीं, लेकिन उनके परिवार वालों की कल्पना कीजिए। उन पर तो दु:खों का पहाड़ टूट पड़ा और यह इसलिए कि उनका मरने वालों के साथ सम्पर्क अधिक

था। यदि हम विमान अपहरण की खबर सुनते हैं तो पहले ध्यान जाता है कि भारत का तो नहीं। यदि भारतीय विमान का अपहरण होता है तो सब काम छोड़कर हम समाचार सुनने में लग जाएंगे। हमें दु:ख-दर्द ज्यादा होगा।

इस प्रकार शारीरिक (शीत-उष्ण) और मानसिक यानि सुख दुख आदि सभी अनुभवों का कारण है हमारे शरीर और मन का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क। अब देखिए कि शरीर और मन तो परिवर्तनशील है ही जैसा कि हम पिछले श्लोक में देख चुके हैं, बाहरी वस्तुएं भी बदलती रहती हैं। फिर दो सतत् पविर्तनशील वस्तुओं का सम्पर्क अपरिवर्तशील सुख या दु:ख कैसे दे सकता है? इसीलिए भगवान कहते हैं कि ये आने-जाने वाले हैं, अनित्य हैं। न सुख स्थायी रह सकता है, न दु:ख। सुख का अंत ही दु:ख है और दु:ख का अंत ही सुख, इसलिए ये सदा एक दूसरे के पीछे लगे रहते हैं। अत: इन्हें हमें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये।

यहां सहने के लिए तितिक्षा शब्द का प्रयोग किया गया है। सहन तो हमें हर अवस्था में करना ही पड़ता है, उससे कोई बच नहीं सकता, लेकिन कुछ लोग तो हाय तौबा मचाकर दूसरों को भी परेशान करते हैं और स्वयं भी अपनी तकलीफ बढ़ा लेते हैं और कुछ शांतिपूर्वक सहते हैं। इसी का नाम तितिक्षा है। नहाने के टब में घुसकर बिना भीगे हम नहीं रह सकते उसी प्रकार मनुष्य के रूप में जन्म लेकर शरीर के भोगों को भोगे बिना नहीं रह सकते, अतएव हमें शांति, धैर्य और हिम्मत से काम लेना चाहिये।

इसका व्यावहारिक उपाय हमेशा यह विचार करते रहना है कि यह भी स्थायी रहने वाला नहीं है। तब दु:ख की अवस्था में हमारी हिम्मत बंधेगी और सुख में भी अधिक फूलेंगे नहीं। सुख आए तो उसका आनंद लेते हुए दु:ख के लिए मानसिक रूप से तैयार रहना चाहिए क्योंकि निश्चित रूप से वह तो आएगा ही। जिस प्रकार रात खत्म होती है, उजाला होता है। सूर्य डूबता है फिर अंधाकार हो जाता है। हर रात को हम आंसू नहीं बहाते हर सुबह हम नये सूर्य के लिए केक नहीं काटते क्योंकि हम जानते हैं कि फिर रात आनी ही है। रोज यह क्रम देखते-देखते हमारा विश्वास दृढ़ हो गया है। सुख-दु:ख का आना-जाना भी हम सबके जीवन में देखते तो हैं, लेकिन रात-दिन की तरह इसका समय बिल्कुल निश्चित नहीं। कभी तो एक क्षण में यह परिवर्तन

महसूस करते हैं, कभी लम्बे समय बाद, इसलिए इतनी अच्छी तरह समझ नहीं पाते, लेकिन फिर भी यह जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति न तो स्थायी रूप से दु:खी है न स्थायी रूप से सुखी। इस अनित्य सुख-दु:ख को शांतिपूर्वक झेलना ही समझदारी है।

इस बात का विश्वास दृढ़तापूर्वक मन में जमा लें कि सुख-दु:ख आने-जाने वाले और अनित्य हैं तो हम सुख में अधिक उछल-कूद न मचा कर भावी दु:ख को समझते हुए सम रहेंगे और दु:ख में रोना-पीटना न मचाकर भावी सुख को समझते हुए शांत रहेंगे। यह समत्व हर साधक के लिए बहुत आवश्यक है।

पिछले श्लोक को पढ़कर ऐसा लगता है कि भगवान तो हमें जड़ बन जाने की सलाह दे रहे हैं। सुख-दु:ख देने वाले ये भोग, ये वस्तुएं तो उसी की बनाई हुई है, यह भी कोई बात है कि सुख में हंसे नहीं, दु:ख में रोये नहीं। ऐसे जीवन से फायदा ही क्या? क्यों जिए हम ऐसा जीवन? भगवान इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जो पुरुष व्यथित नहीं होते, जो धीर पुरुष सुख दु:ख में सम रहते हैं वे ही अमरता के अधिकारी हैं।

अमृतत्व या अमरता मनुष्य जीवन का सर्वाधिक आकर्षक लक्ष्य है। वैसे तो भगवान पहले ही बता चुके हैं कि हमारा सत्य-स्वरूप, भूत-भविष्य-वर्तमान में सदैव अपरिवर्तित रहता है अर्थात् अनश्वर, अमर है। बदलता तो मात्र यह बाहरी आवरण शरीर, मन, बुद्धि है किन्तु हम अपने को अमर समझ कहां पाते हैं? शरीर, मन, बुद्धि हमें इसलिए दिए गए हैं कि हम इस सदुपयोग कर अपने अनश्वर तत्व को पहचानें और सही माने में अमर हो जाएं किन्तु इसके बदले होता यह है कि शरीर मन बुद्धि के साथ स्वाभाविक रूप से लगने वाले सुख-दु:ख यानी अनुकूलता-प्रतिकूलता के भोग में ही हम इतना

खो जाते हैं कि वास्तविक लक्ष्य का ध्यान ही नहीं रहता। इसलिए भगवान कहते हैं कि वही अमरता को प्राप्त कर सकता है जो सुख-दुख में सम और धीर हो। सम के साथ धीर शब्द लगाने का तात्पर्य यह है कि सम रहने वालों में भी वे ही पुरुष अमरता के अधिकारी हैं जो धीर अर्थात् धैर्यवान और ज्ञानी है, वे नहीं जो केवल मूर्खता वश हर स्थिति को सहन करते जाते हैं क्योंकि न उनमें प्रतिकार लगने का साहस है न योग्यता। समत्व बुद्धि द्वारा पुष्ट होना चाहिए अयोग्यता द्वारा नहीं।

अमृतत्व के चाहने वाले धीर पुरुष वे होते हैं जो अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों को मात्र 'भोगते' नहीं वरन उनका 'उपयोग' अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए करते हैं। सुख में उछल कूद मचाने का अर्थ है हम अपनी सारी अनुकूल परिस्थिति का उपयोग केवल भोग में ही कर डालेंगे। तब हम अपने कल्याण का कार्य कब करेंगे? अनुकूलता का सदुपयोग करने की शक्ति तो अनुकूलता के भोग में ही खर्च हो जाएगी और फिर जल्दी ही प्रतिकूल स्थिति भी आ जाएगी ही। तब हमारा सारा समय हाहाकार करने में व्यतीत हो जाएगा।

अब प्रश्न यह है कि इस अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों का उपयोग किया किस प्रकार जाए। इस उपयोग के लिए समता सबसे अधिक आवश्यक है। जैसे यदि हमारे पास धन है, स्वस्थ शरीर है, अन्य सांसारिक साधान है और उनका उपयोग केवल सुख-साधन जुटाने में ही करते हैं तो यह भोग हुआ और परमार्थ के लिए करते हैं तो यह योग हुआ जो कि वास्तव में हमारा सबसे बड़ा स्वार्थ है। बस हममें यह बुद्धि नहीं कि हम परमार्थ में स्वार्थ देख सकें।

इसी प्रकार प्रतिकूल समय को सुगम बनाने का तरीका भी यह है कि हम अपने लक्ष्य को सामने देखते हुए क्षणिक सुख की आशा त्याग दें। जैसे रोगी को कड़वी दवा लेनी पड़ती है। दवा लेना उसके लिए परम दुखदायी है लेकिन उसके सामने अपने निरोग होने का लक्ष्य है। इसके कारण वह न चाहते हुए भी राजी खुशी दवा लेता है। देश को स्वतन्त्र कराने का लक्ष्य रखने वाले हंसते-हंसते सूली पर चढ़ गए। दवा लेने में रोना पीटना मचाने वाला दुख तो 'भोगता' है उसे हासिल कुछ नहीं होता लेकिन दवा के दुख को

राजी-खुशी स्वीकार करने वाले को स्वास्थ्य की प्रप्ति होती है।

इस प्रकार सुख-दुख में सम रहना अपने को जड़ करना नहीं बल्कि चेतना को उच्चतम स्थिति में पहुंचाना है जहां हम जानते हैं कि ये सब अनित्य और क्षण-भंगुर है। नश्वर देह के साथ तादाम्य ही नश्वरता है और अविनाशी आत्मा के साथ तादाम्य अमरता है। शरीर और शरीरी के विषय में भगवान और भी आगे कहते हैं-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

असत् का भाव (सत्ता, होना) विद्यमान नहीं है, सत् का अभाव नहीं होता। तत्वदर्शी महापुरुषों ने इन दोनों का ही अन्त अर्थात् तत्व देखा है।

असत् कभी होता नहीं, सत् का ना होना कभी नहीं होता। अर्थात् सत् वह है जो हर देश काल परिस्थिति में रहता ही है। जो पहले नहीं था, बाद में नहीं होगा वह वर्तमान में जैसा हो सकता है- उसका आभास तो हो सकता है पर सत्ता नहीं हो सकती अतः वेदान्त उसे असत् कहता है। और सत् उसे जो पहले भी था, अभी भी है, बाद में भी रहेगा।

खम्भे और भूत के उदाहरण में देखें- अंधेरे में हमने खम्भे को भूत समझ लिया। खम्भा पहले भी था, अभी भी है बाद में भी रहेगा अतः खम्भा सत् है। भूत हमें अभी दिखाई पड़ रहा है (भ्रम वश) न वह अंधेरा होने के पहले दिखाई दे रहा था न रोशनी होने के बाद दिखाई देगा, तब फिर खम्भा भूत कैसे हो सकता है- दूसरे शब्दों में भूत की सत्ता है ही कहां? अतः भूत असत् है। सत् असत् का यह विवेचन सापेक्ष है भूत की अपेक्षा खम्भा सत् है इसी प्रकार खम्भे की अपेक्षा लोहा सत् होगा जिसका विवेचन हम आगे देखेंगे।

हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न में परीलोक में पहुंच गए। जागने पर कुछ नहीं मिलता । समझ में आता है कि यह सब तो मन का खेल है। हमारा मन स्वप्न में और जागने पर दोनों अवस्थाओं में है अतः स्वप्न असत् और मन सत् हुआ।

अब तर्क को आगे बढ़ाएं। हमारा मन आज जैसा न कल था न कल रहेगा। एक एक क्षण में बदलता रहता है, कभी भावुक कभी कठोर, कभी सुखी–कभी दुखी। जो मन अभी है वह मन एक क्षण पहले भी नहीं था। लेकिन हम जानते है कि मन कल ऐसा था, आज ऐसा है। बचपन में कैसा था, यौवन में कैसा हो गया। इसका अर्थ है कि हममें कुछ है जो बदला नहीं और इस बदलाव को देख रहा है, उसके प्रति चैतन्य है। यह साक्षी चैतन्य ही सत् है जिसे देही, शरीरी, आत्मा आदि नाम दिए गए हैं। भगवान कहते हैं कि इस साक्षी चैतन्य के संदर्भ से देखें तो शरीर, मन, बुद्धि, असत् है।

तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुष इन दोनों के तत्व को जानते हैं अर्थात् वे दोनों की सही सही स्थिति समझ कर उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं। शरीर का यह तत्व क्या है यह विस्तार पूर्वक भगवान अगले श्लोकों में बताते हैं। सत् का विवेचन करते हुए भगवान कहते हैं–

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।१७।।

अविनाशी तुम उसे जानो जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश कोई भी नहीं कर सकता।

अविनाशी सत्य वह तत्व है जिसके ऊपर असत् तत्व अर्थात् मिथ्या भ्रम आरोपित होते हैं। भ्रम के कारण हमें दिखता कुछ है, वास्तविकता कुछ और ही होती है। भ्रम तो समयानुसार या विभिन्न उपायों से दूर हो जाते हैं। लेकिन सत् रहता ही है। भगवान कहते हैं कि सत् वह है जो असत् में व्याप्त रहता है।

जैसे हम खम्भे में भूत का भ्रम आरोपित करते हैं तो भूत को व्याप्त करने वाला खम्भा जो भूत का आधार है जिसके ऊपर हम भूत का हिलता सर देखते हैं, वह भूत के साथ नष्ट नहीं होता। ज्ञान होने पर भूत नष्ट हो जाता है। खम्भा बना रहता है।

इस संसार में जितनी वस्तुएं हैं सबका आधार है आकाश। आकाश

सब में व्याप्त है। हम कितने भी परमाणु बम बना लें, पूरे संसार को उड़ा सकते हैं लेकिन सर्वव्यापक आकाश को नहीं खत्म कर सकते। मिट्टी के घड़े, गगरी, हांडी विभिन्न प्रकार के बर्तन हैं, उनका सत्य तत्व है मिट्टी, जो सब में व्याप्त है। हम सारे बर्तनों को तोड़ सकते हैं लेकिन मिटी तो वही रहेगी पहले भी, अभी भी, बाद में भी। इसी प्रकार आत्मा प्राणी में व्याप्त सत्य है, वह अविनाशी है, स्वयं सृष्टिकर्ता भी चाहे तो आत्मा का अंत नहीं कर सकता।

असत् का विवेचन करते हुए भगवान कहते हैं-

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

अविनाशी अप्रमेय तथा नित्य रहने वाले इस शरीरी की देह का अंत होता ही है अतः हे भारत, युद्ध करो।

आत्मा का बाहरी आवरण जो शरीर है वह तो सभी अनित्य, नाशवान वस्तुओं से बना है। इसकी कोशिकाएं, प्रोटोप्लाज्म का हर समय नाश होता ही रहता है और नई कोशिकाएं बनती भी रहती है। जहां आत्मा का परिर्वतन किसी भी क्षण नहीं होता वहीं शरीर का परिर्वतन हर क्षण होता रहता है। किसी भी देहधारी की देह स्थायी नहीं। आयु कम अधिक हो सकती है लेकिन देह का अंत निश्चित है, इसमें कोई शक है ही नहीं। मृत्यु किसी के मारने से भी हो सकती है, रोग या एक्सीडेंट से भी और हार्ट फेल होकर भी लेकिन होगी अवश्य। प्रकृति में हर चीज का चक्र है। ऑक्सीजन चक्र द्वारा सबके सांस लेने में ऑक्सीजन खर्च होती है और उतनी ही ऑक्सीजन पेड़-पौधे द्वारा फोटोसिन्थेसिस से पैदा होती है। हमारा भी जन्म-मृत्यु का चक्र है। हमारा शरीर पेड़-पौधे या अन्य प्राणियों को खाकर बढ़ता है। अंत में यह शरीर मिट्टीमें मिलकर खाद बन जाता है और इससे पेड़-पौधो फलते-फूलते हैं। मृत्यु को कोई रोक नहीं सकता।

विकारी-अविकारी का इतना ज्ञान देने के बाद भगवान फिर एक

बात पर उतर आते हैं, जो भजन के टेक की भांति गीता में बार-बार आता है- हे अर्जुन युद्ध कर।

अर्जुन के सामने तो जो स्थिति थी वह सचमुच युद्ध की थी अतएव युद्ध का अर्थ अर्जुन के लिए विपक्षी सेना से युद्ध ही है क्योंकि अर्जुन को यही भय लग रहा था कि वह सबकी मृत्यु का कारण बन जाएगा। भगवान आश्वासन देते हैं कि मृत्यु तो सबके देह की अवश्यभावी है इसलिए देह बुद्धि का त्याग कर आत्म बुद्धि से देखो। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अपने-मेरे की भावना से हृदय को कमजोर नहीं बनाकर अपने आदर्शों के ऊपर दृढ़ रहना चाहिए। मोह ममता के बंधन में फंस कर जीवन के संघर्षों से दूर भागने का प्रयत्न नही करना चाहिए। लेकिन मरने मारने की भावना दूर होने पर ही अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होगा, केवल युद्धस्व कह देने मात्र से ही नही। अतएव भगवान युद्ध करने की प्रेरणा के साथ-साथ सत्य का ज्ञान भी कराते हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।।

जो अपने को मारने वाला समझता है, जो अपने को मरने वाला समझता है वे दोनों ही जानते नहीं कि आत्मा न मारती है न मरती है।

सृष्टि का एकमात्र सत्य है अव्यय, अविनाशी अविकारी आत्मा जो प्रत्येक प्राणी में समान रूप से व्याप्त है, जो हमारे जड़ शरीर को चेतन बनाता है। शरीर सत् स्वरूप है। सत् उसे कहते हैं जिसकी केवल सत्ता है। मन और बुद्धि चित्त स्वरूप हैं जो भावनाओं विचारों के स्थान हैं। आत्मा आनंद स्वरूप है आत्मा की उपस्थिति से ही सच्चिदानंद (सत्+चित्+आनन्द) का निर्माण होता है। मन और बुद्धि विचार के द्वारा सुख दुख भोगने में सक्षम होते हैं और शरीर क्रिया करने में सक्षम होता है। लेकिन मरे हुए मनुष्य के न हाथ पैर काम सकते हैं न उसके सर में स्थित दिमाग कुछ सोच सकता है। अर्थात् वास्तविक कर्ता और भोक्ता तो आत्मा है लेकिन भ्रमवश हम अपने शरीर को कर्ता और अपने मन को भोक्ता समझ लेते हैं। 'यह शरीर और मन मैं हूं'

समझकर कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव का लबादा अपने ऊपर डाले रहते हैं। यही हमारा अहंकार है। यह बात हर एक क्रिया, हर एक भोग के साथ लागू होती है। हम जो भी करते हैं, हमें कभी नहीं समझना चाहिए कि मैं करने वाला हूं। हमें जो भी सुख दुख होता है वह मेरा है यह समझना भी भूल है। दोनों विचारों में न उलझने वाला व्यक्ति ही उन्मुक्त भाव से जी सकता है इसीलिए भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं कि तुम न कर्ता हो न भोक्ता।

यहां चूंकि प्रसंग युद्ध का है इसलिए वे क्रिया का उदाहरण मारना और भोग का उदाहरण मरना दे रहे हैं। भगवान कहते हैं कि इस शरीर को मैं मानने वाला जीव न तो मरने वाला है न मारने वाला यानि न भोगने वाला न करने वाला।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यःशश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२०।।

वह न जन्म लेता है न कभी मरता है यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला नहीं है। यह जन्म रहित, नित्य-निरन्तर रहने वाला, शाश्वत, पुराण (अनादि) है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।

हमारा सत्य स्वरूप तो यह शरीर नहीं बल्कि आत्म रूप शरीरी है, जो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी मरता नहीं क्योंकि वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और परिवर्तनों से परे है।

यह श्लोक कठोपनिषद् से हू-ब-हू लिया गया है। इसमें आत्मा को निर्देशित करने वाले चार शब्द हैं- अज, नित्य, शाश्वत, पुराण। वैसे तो आत्मा को परिभाषित किया नहीं जा सकता क्योंकि यह देखने, सुनने, समझने की है ही नहीं। यह तो वह कारण है जिसके कारण जीव देखता सुनता समझता है। परिभाषा तो हम उन्हीं वस्तुओं की दे सकते हैं जिनका रूप, रंग, आकार आदि हो। जिसे मन और बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सके। आत्मा को मन, बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता अतः समस्या आ खड़ी होती है। आत्मज्ञानी ऋषि स्वयं तो मन बुद्धि से परे होकर आत्मा को जान चुके पर साधारण मानव को बताएं कैसे? इसीलिए उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग किया है जो सत्य को

सीधे-सीधे तो नहीं बताते पर इनके अनुसार चिंतन किया जा सकता है। जैसे यदि किसी को गुप्ता जी की पहचान बता दी जाए कि वह एकदम गंजा है तो भीड़ में यदि गुप्ता जी को खोजना है तो खोजने वाला व्यक्ति अपनी नजरों से हर उस व्यक्ति को हटा देगा जिसके सर पर थोड़े भी बाल हैं। ऐसा करते-करते वह अन्ततः गुप्ता जी तक पहुंच ही जाएगा। उसी प्रकार 'अज' शब्द का अर्थ है जो अजन्मा है। यह सब पहचान है। अब हमारे सामने जितनी भी वस्तु, प्राणी इत्यादि ऐसे हैं जिनका जन्म हम जानते हैं तो हम अपने विचारों से उसे हटा देंगे। इस प्रकार इन पहचान के द्वारा चिंतन की प्रक्रिया शुरू की जा सकती है। अज, नित्य, शाश्वत आदि शब्दों की व्याख्या पहले भी की जा चुकी है। यहां पुराण शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

पुराण का अर्थ है पुरातन। हम जितनी भी वस्तुएं देखते या जानते हैं सब का उद्‌भव कभी ना कभी तो हुआ ही है किन्तु शरीरी इन सबसे पुरातन, अर्थात् अनादि है।

शरीरी यानि आत्मा मरता नहीं- यह बात पिछले श्लोक में स्पष्ट करने के बाद अब भगवान दूसरे बिंदु पर आते हैं- आत्मा मारता भी नहीं।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

जो यह जानता है कि शरीरी अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय है वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाए।

मरने मारने का अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव ही समस्त बंधन का कारण है। यही सारी समस्या को जन्म देता है जब तक हम अपने आप को इस भ्रम जाल में डुबाए रखेंगे तब तक समस्या को निरपेक्ष रूप से देख नहीं पाएंगे, तब समस्या सुलझ नहीं सकती। जब तक हम लहरों के साथ हिचकोले खा रहे हों तब तक कोई यदि कहे कि लहरों के उठने गिरने से क्या अन्तर पड़ता है, हम नहीं मानेंगे। लहरों से अलग होकर सागर किनारे बैठ कर जब हम देखेंगे तब समझ में आएगा कि लहरें तो सागर का ऊपरी स्वरूप है, इनके मिटने से सागर मिटता नहीं, किसी लहर के बढ़ने से सागर

का स्तर बढ़ता नहीं। हम अपने शरीर के साथ इतना तादात्म्य किये बैठे हैं कि इसका रंच मात्र परिवर्तन भी हमें विचलित कर देता है, शरीर से जुड़े सारे संबंधी हमें अपने लगते हैं और हम मोह जाल में फंस जाते हैं। इसी को निरपेक्ष भाव से देखना है। हमें जो कुछ भी दिखता है वह देश काल बाधित है और ऐसी वस्तु का बनना बिगड़ना मिटना अवश्यम्भावी है लेकिन यह सब तो लहरों की भांति ऊपरी आवरण मात्र है, सत्य तो देशकाल अबाधित है जो जन्म लेता नहीं, मरता नहीं। ऐसा जानने के बाद मरने, मारने और मरवाने का भाव ही समाप्त हो जाता है। आकाश में विचरण करते हुए पक्षियों को देखकर तो हम कभी नहीं सोचते कि ये आकाश को चीर रहे हैं, भेद रहे हैं, मार रहे हैं।

भगवान ने बाताया कि देह नाशवान है, देही कभी मरता नहीं। यह ठीक है लेकिन फिर हम जो नित्य प्रति लोगों को मरते देखते हैं यह मरना है क्या? भगवान कहते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

मनुष्य जैसे पुराने कपड़े छोड़कर दूसरे नए कपड़े धारण कर लेता है ऐसे ही देही पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है।

गीता का यह श्लोक अत्यन्त प्रचलित है और हिन्दू धर्म के पुनर्जन्मवाद को प्रतिष्ठित करता है। जन्म और मृत्यु को देह परिवर्तन बताकर उसकी तुलना भगवान ने वस्त्र परिवर्तन से की है।

जीर्ण शब्द का अर्थ है पुराना, घिसा हुआ लेकिन इसका व्यापक अर्थ लें तो होगा- 'जो उपयुक्त नहीं है।' हम कपड़े केवल पुराने या गंदे होने से ही नहीं बदलते, अपनी आवश्यकता के अनुसार बदलते हैं। यदि तैरने जाना हो तो नई सूट और टाई उतार देते हैं तथा तैराकी की पोशाक ही पहनते हैं। हम कहां जा रहे हैं, क्या करना चाहते हैं उसी के अनुसार वस्त्र का चुनाव करते हैं। भगवान कहते हैं कि शरीरी भी इसी प्रकार देह बदलता है। पुरानी देह को छोड़ने को हम अपनी भाषा में मृत्यु कह देते हैं और नई देह धारण

को जन्म कह देते हैं। वास्तव में जन्म एक परिवर्तन मात्र है।

वस्त्र परिवर्तन से हम खुश होते हैं फिर यह शरीरी जब देह परिवर्तन करता है तो इसमें दुख क्यों? फिर भी मृत्यु की कल्पना मात्र से हम रोते और दुखी होते हैं। वास्तव में यह रोना मृत्यु के लिए नहीं, जीने के लिए हैं। हम इसी शरीर और इसके वातावरण से इतना अधिक मोह कर लेते हैं कि इसको छोड़ने की कल्पना हमें अच्छी नहीं लगती, हम इसे ही धारण किए रखना चाहते हैं चाहे यह कितना ही अशक्त, रोगी, और कष्टदायक क्यों न हो। यह और कुछ नहीं हमारी मूर्खता है। संसार में ऐसे लोग तो होते ही हैं कि (बच्चे में यह प्रवृत्ति काफी देखने मिलती है) उन्हें कोई पोशाक जच जाती है तो उसे खोलना ही नहीं चाहते। मां जानती है कि यह गंदी हो गई है, इसे पहने-पहने बाजार नहीं जाया जा सकता लेकिन बच्चा खोलने को राजी नहीं। वह रोता चिल्लाता है लेकिन मां को तो यदि बच्चे को बाहर ले जाना है तो कपड़े उतारेगी ही। इसी प्रकार हम रोते पीटते रहते हैं लेकिन वास्तव में यह शरीर शरीरी के लिए एक आवरण है। शरीरी ने अपनी कुछ वासनाओं की पूर्ति के लिए यह शरीर धारण किया था, उसका काम हो चुका, अब और काम करने हैं। जब यह शरीर उसके उपयुक्त नहीं रहेगा तो वह अपना चोला बदलेगा ही। इसे सहज रूप में स्वीकार करना ही बुद्धिमानी है।

जिस प्रकार रोगी के चारों और कैसा वातावरण रहे- अस्पताल, घर, पथ्य आदि कैसे हों ये सब इस पर निर्भर करते हैं कि उसे रोग क्या है। रोग के अनुसार ही सब कुछ निश्चित किया जाता है। उसी प्रकार हमारा शरीर, हमारा वातावरण आदि हमारी वासनाओं के अनुसार निर्धारित होते हैं। जब कुछ निश्चित वासनाएं पूरी हो जाती है और ऐसी वासनाएं शेष रह जाती है जो वर्तमान शरीर के द्वारा पूर्ण नहीं की जा सकती तब शरीरी यह शरीर बदल लेता है। जैसे नहाने की इच्छा पूरी हो गई और पार्टी में जाना है तो तैराकी की पोशाक त्याग कर हम पार्टी के लायक वस्त्र पहन लेते हैं।

इस श्लोक के जीर्ण शब्द को लकर एक संदेह उठता है। कभी-कभी हृष्ट-पुष्ट युवक की असामयिक मृत्यु हो जाती है और उसकी वृद्धा, रूग्ण, जर्जरकाय दादी खटिया पर पड़ी कराहती रहती है उसे मौत नहीं आती। फिर जीर्ण देह को त्यागने का अर्थ क्या है? वास्तव में वस्त्र जीर्ण हुए कि नहीं, त्यागने लायक हुए कि नहीं यह निर्धारित करने वाला कौन है? उसको पहनने

वाला। कुछ लोग हर साल कार बदलते हैं- उनके लिए एक साल में कार बेकार हो जाती है लेकिन खरीदने वाला सोचता है वाह पचास हजार कम में बिलकुल नई कार मिल गई। जो कार एक के लिये पुरानी है वह दूसरे के लिए नवीन। यदि फैशन बदल जाता है, या किसी भी कारण से कपड़े पहनने लायक नहीं लगते तो हम उनके फटने का इंतजार न कर उन्हे छोड़ देते हैं उसी प्रकार शरीरी की वासनाओं की पूर्ति के लिए शरीर उपयुक्त नहीं रहता तो वह बीस वर्ष का हो या अस्सी का, उसके लिए जीर्ण ही है।

एक बात और है। जैसे अच्छे कपड़े उतार कर कोई तौलिया लपेटता है तो हम उसे भले कंगाल समझ लें, जिसके पास तन ढंकने को कपड़े तक नहीं, वह तो उसी में खुश है क्योंकि उसे नहाने की वासना है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य निम्न योनि में जाता है (यदि हमें पता चले) तो भले हम दु:ख प्रकट करें कि बेचारे को सूअर का शरीर मिला, वह स्वयं उसी में सबसे अधिक खुश है क्योंकि मनुष्य योनि में वह जीवन भर खाने की वासनाएं पाले रहा, मृत्यु के समय उसके जीवन भर की संचित वासनाओं में सबसे प्रबल वासना यही थी कि खूब खाऊं, खूब खाऊं। तो बताइए उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए सूअर के शरीर से उपयुक्त और कुछ है क्या?

एक के बाद एक चोला बदलने वाला शरीरी वही रहता है। इसके बारे में भगवान विस्तार से कहते हैं-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत:।।२३।।

इसे न शस्त्र भेद सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगा सकता है, न वायु सुखा सकती है।

यदि हमने विदेश में जाकर कोई पक्षी को देखा जो हमारे घर में किसी ने नहीं देखा तो उसे कैसे वर्णित करेंगे? यदि आप शहद की मिठास किसी व्यक्ति को बताने जाएं तो वह यही पूछेगा- क्या चीनी जैसा है? गुड़ जैसा? रसगुल्ले जैसा? अव्यक्त का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है हमारे पास भाषा दूसरी नहीं, हमें प्रचलित शब्दों का ही सहारा लेना होगा। किसी वस्तु से मिलता

हुआ गुण, किसी से भिन्नता, इन सबके सहारे ही हम कुछ-कुछ समझा पायेंगे। पर वास्तविक ज्ञान तो उसे स्वयं शहद खाकर ही होगा। यहां भी प्रचलित शब्दों द्वारा ऐसी वस्तु को समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है जो शब्दों से परे है। भगवान कहते हैं कि यह ऐसा है जिस पर शस्त्र, आग, पानी, हवा किसी का कोई असर नहीं होता। समझाने का यह निषेधात्मक तरीका है। वेद भी ब्रह्म का वर्णन नेति-नेति कहकर करते हैं। नेति का अर्थ है न इति अर्थात् यह नहीं। तात्पर्य यह है कि अपनी इंन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा हम जो कुछ भी देख, समझ या महसूस कर सकते हैं, ब्रह्म उनमें से कोई भी नहीं है। ये सब शस्त्र, आग, पानी या हवा द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं लेकिन आत्मा इन सबसे परे अविनाशी और अविकारी है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

इसे काटा, जलाया, भिगाया, सुखाया नहीं जा सकता, यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर अचल और सनातन है।

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में वे उपाय है जिसके द्वारा किसी वस्तु को नष्ट किया जा सकता है। यदि शरीरी इन सबसे परे है तो वह निश्चित रूप से नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और अनादि होगा ही।

आत्मा के लिए उपयुक्त ये सारे शब्द एक दूसरे से क्रमवार सम्बन्धित हैं। जिसे जलाया, सुखाया, भिगाया या काटा नहीं जा सकता वह अविनाशी अर्थात् नित्य तो होगा ही, सर्वव्यापी भी होगा क्योंकि किसी भी वस्तु की यदि बाहरी रूप रेखा है तो उसके खण्ड अवश्य किए जा सकते हैं।

दर्शन शास्त्र में व्यापकता की पहचान सूक्ष्मता है। बर्फ स्थूल है क्योंकि रखे जाने पर वह एक सीमित स्थान घेरती है। वही बर्फ गल कर पानी बन जाने पर पूरे कमरे के फर्श में फैल सकती है और भाप बन जाने पर फर्श से छत तक पूरा स्थान घेर सकती है। बर्फ से सूक्ष्म जल है, जल से सूक्ष्म भाप। जल बर्फ से अधिक व्यापक है और भाप जल से। इसी प्रकार हमारा शरीर स्थूलतम रूप है। शरीर जहां नहीं जा सकता वहां मन जाता है अतः

मन इससे अधिक व्यापक और अधिक सूक्ष्म है।

मन तो केवल उन वस्तुओं में दौड़ता है जिसे हम जानते हैं लेकिन बुद्धि उनके विषय में भी चिंतन करने लगती है जिन्हें हम अभी जानते नहीं अतः बुद्धि मन से अधिक व्यापक तथा आत्मा बुद्धि से भी अधिक व्यापक है क्योंकि बुद्धि भी तभी तक विचार कर सकती है जब तक उसमें आत्मा स्पन्दित होती है। मृत वैज्ञानिक कोई परीक्षण नहीं कर सकता। अतः आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और सर्व व्यापक है।

आत्मा स्थाणु अर्थात् स्थिर है– वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती नहीं। वह अचल भी है, उसमें किसी प्रकार की गति नहीं। वास्तव में जो सर्वत्र है वह वस्तु कहां से कहां जाएगी? वायु एक स्थान से दूसरे स्थान जा सकती है लेकिन आकाश कहां जाएगा? ऐसा कोई स्थान ही नहीं जहां वह नहीं हो। कोई भी व्यक्ति वहीं जा सकता है जहां वह अभी तक नहीं है। आत्मा सर्वत्र है। इसीलिए हिन्दू धर्म में नारायण को अचल कहा गया है। पुकारने पर ही आने वाले भगवान की कल्पना करना तो भगवान को बहुत क्षुद्र बनाना है। हम सब उसी में हैं वह आएगा कहां से और कहां पर?

जो कभी मर नहीं सकता वह निश्चित रूप से कभी जन्मता भी नहीं, क्योंकि यह सृष्टि का नियम है कि जन्मने वाली वस्तु की मृत्यु होती है इसलिए शरीरी अजन्मा है अर्थात् जब और प्राणियों ने जन्म लिया उसके भी पहले था इसलिए उसे सनातन कहा गया है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

इसे अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी कहा गया है। इसलिए यह जानते हुए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

स्मरण रहे कि भगवान ने अपनी बात कहनी आरंभ की थी तो सबसे पहले कहा था शोक न करो। शोक करना क्यों गलत है इसका तर्क देना १२ वें श्लोक से आरंभ किया था और पहला तर्क अब यहां २५ वें श्लोक में पूर्ण होता है।

इन १२ श्लोकों में भगवान भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा यही बता रहे हैं कि शरीरी का कुछ बिगाड़ नहीं किया जा सकता, मरना तो दूर, परिवर्तन भी नहीं हो सकता अतः मृत्यु के लिए शोक करना उचित नहीं। यहां भी वे पुनः कहते हैं- वह अव्यक्त है, उसे समझा नहीं जा सकता, वह अविकारी है। अतः तुम्हें उसके लिए शोक नहीं करना चाहिये।

आत्मा की अजरता अमरता सृष्टि का परम सत्य है, महानतम ज्ञान है जो केवल पढ़कर सुनकर या समझकर नहीं पाया जा सकता क्योंकि यह अव्यक्त है- देखकर तो केवल व्यक्त को ही समझा जा सकता है, यह विचारों द्वारा भी नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि अचिन्त्य है यह भगवान स्वयं कह रहे हैं। इसके सच्चे ज्ञान के लिए तो इन्द्रिय मन बुद्धि से उपर उठना होगा जो कुछ असाधारण ज्ञानी तपस्वी ही कर सकते हैं- अर्जुन तो उनमें है नहीं, वह तो एक क्षत्रिय है। भगवान भी जानते हैं वह इस लायक नहीं फिर भी उन्हें ज्ञान देना तो होगा ही इसलिए महानतम ज्ञान पहले दे देते हैं। अर्जुन का चेहरा शून्य है। आत्मा- अचिन्त्य, अव्यक्त, कैसे समझे यह सब? न समझ में आए तो ऐसे ज्ञान से फायदा क्या? भगवान कहते हैं- यह नहीं समझ में आ रहा न तो दूसरा सुनो। अगले श्लोक में वे ज्ञान के उच्चतम स्तर से एक सीढ़ी नीचे उतरते हैं।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

हे महाबाहो अगर तुम इसे नित्य पैदा होने वाला और नित्य मरने वाला भी मानो तब भी तुम्हें इसका शोक नहीं करना चाहिये।

भगवान अभी तक आत्मा की अजरता अमरता की बात कह रहे थे। फिर यह भी कह दिया कि वह अचिन्त्य है तो साधारण सांसारिक व्यक्ति तो इस पर विश्वास करेगा नहीं। वह कहेगा मैं तो वही मानूंगा जो मैं अपनी आंख से देखता हूं। अब विचार करें कि हम देखते क्या हैं- हम देखते हैं कि एक ओर जन्म का और दूसरी ओर मृत्यु का क्रम निरंतर चल रहा है। कुछ मर गए हैं, कुछ मृत्यु के इंतजार में घड़ियां गिन रहे हैं। कुछ बुढ़ापे

की ओर अग्रसर हो रहे हैं जो कुछ दिनों बाद जीवन के दिन गिनने लगेंगे। कुछ ने यौवन में कदम रखा है, कुछ बचपन के खेल में लगे हैं और दिन ब दिन बढ़ रहे हैं, कुछ ने अभी जन्म लिया है। जन्म से मृत्यु कोई एक अचानक घटने वाली घटना नहीं, एक लम्बा क्रम है। सात साल में मनुष्य के शरीर की प्रत्येक कोशिका बदल जाती हैं, यह अचानक नहीं होता। प्रतिदिन कुछ कोशिकाएं नई बनती है, कुछ नष्ट होती है। इस प्रकार यह शरीर नित्य जन्मता तथा नित्य मृत्यु को प्राप्त होता है। बचपन का अंत यौवन का जन्म, तथा यौवन का अंत वृद्धावस्था का जन्म है। वृद्धावस्था के बाद हम मृत्यु देखते हैं जिसमें शरीर बिलकुल ही नष्ट हो जाता है जबकि आत्मा का नाश नहीं होता। यदि हम इन तर्कों से सहमत न हों तो भी शोक क्यों न करें यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

क्योंकि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म निश्चित है। अतएव इसे अपरिहार्य मानते हुए तुम्हे इसका शोक नहीं करना चाहिए।

हम देख रहे हैं कि जिसने जन्म लिया है वह प्रतिपल बदलते हुए निरंतर मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। इसमें कोई अपवाद नहीं। यह परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जो अपरिहार्य है, हम चाहें या न चाहें वह तो होगी ही। जैसे सुबह के बाद शाम आएगी ही, सूरज डूबेगा ही, रात होगी ही। अधिक काम का बोझ रहता है तो भले ही हमें लगे कि दिन के अट्ठाईस घंटे क्यों न हुए पर रोज देखने के कारण हम जानते हैं कि ऐसा होगा ही इसलिए उसका शोक करने नहीं बैठते। हर साल हम जानते हैं कि हम मृत्यु के और नजदीक पहुंच रहे हैं फिर भी उसका शोक नहीं करते हैं। जब हम इन मौतों में से किसी पर दुखी नहीं होते तो देहान्त पर शोक किस बात का?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधानन्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

प्राणी आदि में अव्यक्त रहता है, मध्य में व्यक्त होता है और देहान्त के बाद फिर अव्यक्त हो जाता है फिर इसमें दु:ख की बात ही कहां?

इस श्लोक में अति साधारण व्यक्ति के दृष्टिकोण से जीवन को देखा गया है। वह तो शरीरी की कल्पना भी नहीं करता। उसके सामने यह प्रश्न भी नहीं है कि शरीरी शरीर के साथ जन्मता या मरता है या नहीं। वह केवल जन्म से मृत्यु के बीच होनवाले अनुभवों को जीवन मानता है। भगवान कहते हैं कि ऐसा सोचने पर भी शोक का आधार नहीं है।

यदि ऐसे व्यक्ति को पूछे, जीवन क्या है तो कहेगा कि जन्म से मृत्यु के बीच के समय में जो भी हमें दिखाई देता है (व्यक्त है), वही जीवन है। उससे पूछें कि जन्म से पहले तुम कहां थे? वह उत्तर देगा- 'मैं नहीं जानता' यानि वह अव्यक्त है। मृत्यु के बाद तुम कहां जाओगे? 'मैं नहीं जानता' यानी वह भी अव्यक्त है। इसका अर्थ है वह 'मैं नहीं जानता' से आया है और 'मैं नहीं जानता' ही जा रहा है। जहां से हम आए हैं वहीं वापस जाने में दु:ख किस बात का? वही तो हमारा स्थायी निवास है, बीच का व्यक्त जीवन तो अस्थायी है। हम यदि किसी के घर मेहमान बन कर जायें तो कितनी भी खातिर क्यों न हो, वापस घर तो लौटेंगे ही। जब हम स्वप्न देखते हैं तो उसके पहले वह अव्यक्त रहता है, जागने पर फिर अव्यक्त हो जाता है, बीच के थोड़े से समय में वह व्यक्त होता है इसलिए हम उसमें होने वाले सुख-दु:ख को लेकर शोक नहीं करते उसमें मिलने वाली वस्तुओं के गायब हो जाने पर दुखी नही होते तो फिर इस क्षणभंगुर जीवन के लिए दुखी क्या होना जो पहले जैसा था वैसा ही फिर हो जाएगा।

शोक न करने के लिए दिए गए तर्कों की श्रृंखला अर्जुन को प्रभावित नहीं कर पाई तो भगवान कहते हैं कि इसमें तुम्हारा दोष नहीं यह अज्ञान तो प्राय: सभी को है-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य:।

आश्चर्यवच्चैनमन्यश्शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

कोई इसे आश्चर्यवत् देखता है वैसे ही अन्य कोई आश्चर्य की तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई आश्चर्य की तरह सुनता है और इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता।

आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है अत: इसे न साधारण आंखों द्वारा देखा जा सकता है न बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है इसलिए भगवान कहते हैं कि जो इसे देखता है वह आश्चर्यवत् देखता है। यहां देखना का अर्थ अपनी आत्मा को जान लेना है। यह एक ऐसा अनुभव है जो सभी अनुभवों के परे है। इसे आश्चर्यवत् कहने का एक विशेष अभिप्राय है।

जब भी हम कुछ देखते हैं तो हमारी बुद्धि अपनी बात कहती रहती है। हमें बताती रहती है कि जो कुछ घट रहा है वह क्यों और कैसे घट रहा है। लेकिन जब हम कोई चमत्कारिक घटना देखते हैं, जैसे किसी का हाथ हिला कर विभूति निकाल देना, तो हम अपनी बुद्धि से पूछते हैं- यह कैसे हुआ? बुद्धि उत्तर नहीं दे सकती। इस प्रकार जो अनुभव हमें वास्तव में हुआ तो है लेकिन फिर भी उसे हमारी बुद्धि समझ नहीं पाती तो उसे आश्चर्य कहते हैं। आत्मानुभव भी ऐसा है जो बुद्धि की सीमा से परे हैं अत: जिसे यह अनुभव होता है वह आश्चर्य चकित हो जाता है। अधिकांश तो उस अनुभव को वाणी द्वारा व्यक्त कर ही नहीं पाते, कुछ करते भी हैं तो उन्हें स्वयं आश्चर्य होता है। सुनने वाला भी आश्चर्य चकित होकर सुनता है और सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि वह कितना भी सुन ले, आत्मा को जान नहीं पाता।

अंत में अपने आत्मा, देह-देही, शरीर-शरीरी के सारे तर्कों का उपसंहार करते हुए भगवान फिर कहते हैं-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

सभी प्राणियों के देह में वास करने वाला देही नित्य तथा अवध्य है। अत: तुम्हें किसी के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

हम साबुन के घोल में बनते मिटते बुलबुलों को देखते हैं। वे बहुत सुदंर होते हैं, इधर उधर डोलते हैं, हमें बहुत प्यारे भी लगने लगते हैं, हम एक बड़े से सुदंर बुलबुले को देखते जा रहे हैं, अचानक वह फूट गया। हम दुखी नहीं होते क्योंकि जानते हैं कि बुलबुले को तो फूटना ही था, वह तो क्षणभंगुर था, पानी से बना, वापस पानी में मिल गया। कहीं कुछ नष्ट नहीं हुआ, उसका वास्तविक स्वरूप तो पानी ही है आदि आदि।

लेकिन हममें से ऐसा कौन है जो बचपन में अपने गुब्बारे के फूटने से नहीं रोया। उस समय बच्चे को पिता समझाता है- बेटा, यह तो फूटने वाली वस्तु थी ही, इसके फूटने से क्या रोना, गुब्बारा तो देर सबेर फूटता ही है। यह तो साबुन का घोल था फूट कर फिर साबुन बन गया। इसी प्रकार हम किसी प्राणी की देह के अंत पर बच्चे की भांति अज्ञानतावश क्रन्दन करते हैं और जगतपिता हमें समझा रहे हैं- देह तो नाशवान है ही, देही तो अविनाशी है अत: देह के नष्ट होने का दुख न कर देही को तत्वरूप से समझने का प्रयत्न करो।

तीन विभिन्न स्तर से जीवन का सत्य निरूपित करने पर भी अर्जुन रंच मात्र भी नहीं हिला तो भगवान अब नितान्त व्यावहारिक और ऐसे तर्क पर उतरते हैं जो अर्जुन की वर्तमान स्थिति से सीधी तरह जुड़ा है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

अपने धर्म को देखते हुए भी विकम्पित नहीं होना चाहिए। क्षत्रिय के लिए धर्म के लिए लड़े जा रहे युद्ध से श्रेयस् दूसरा कुछ भी नहीं है।

यह तर्क ऐसा है जो कोई भी साधारण व्यक्ति ऐसे समय में अर्जुन को देगा। उच्चतम ज्ञान देने वाले जगतगुरु श्रीकृष्ण किस सहजता के साथ शिष्य के निम्नतम स्तर पर उतर जाते हैं। इसका यह बहुत सुन्दर उदाहरण है। उन्हें तो अर्जुन को जगाना था। वह शोक से जड़वत् हो गया था, ऐसी स्थिति

में पहुंच गया था जब उसकी इन्द्रियां और बुद्धि भी संज्ञा शून्य हो गई थी, केवल मन अपार शोक से व्याकुल था। उसे एक ही बात समझ आ रही थी कि उसे युद्ध नहीं करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को जब तक जगाया नहीं जाय, उसकी बुद्धि की संज्ञाहीनता को न मिटाया जाय, तब तक दूसरा कुछ भी नहीं किया जा सकता। भगवान यह समझकर ही अब ऐसी बातों पर उतर रहे हैं जो अर्जुन के चित्त में इतनी बुरी तरह भरी हुई है कि जरा सा छूते ही उसे आन्दोलित कर देगी।

अर्जुन जन्म से भी क्षत्रिय था और स्वभाव से भी। क्षात्र धर्म उसका स्वधर्म था। यहां स्वधर्म का अर्थ समझना आवश्यक है। धर्म तो ऐसा शब्द है जिसे एक आध शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता। हर एक के अनेक धर्म है अर्थात् वे गुण, जो उसमें होने चाहिए। व्यक्ति ही नहीं वस्तु के साथ भी यह लागू होती है। उदाहरण के लिए चीनी लें। चीनी के सामान्य गुण धर्म है- सफेद, घनाकार दाने एवं मीठा स्वाद, लेकिन पहले दो गुणों में और तीसरे गुण में मूलभूत अंतर है। चीनी थोड़ी पीली या मटमैली भी हो सकती है, दानेदार न होकर पीसी हुई पाउडर के रूप में भी हो सकती है, क्यूब के रूप में भी। फिर भी हम उसे चीनी ही कहेंगे। लेकिन यदि उसका स्वाद मीठा न हो तो हम उसे कदापि चीनी नहीं कहेंगे। इसलिए मिठास चीनी का स्वधर्म है। अतएव स्वधर्म वह गुण है जिसके बिना वह वस्तु वही रह ही नहीं जाती।

अर्जुन क्षत्रिय कुल में जन्मा ही था, क्षत्रियोचित सारे स्वभाव-वीरता, युद्ध कौशल, अन्याय का प्रतिकार, पीड़ितों की रक्षा के लिए युद्ध की तत्परता आदि गुण उसमें कूट-कूट कर भरे थे। इसलिए क्षात्र धर्म उसका स्वधर्म था। क्षत्रियों की आचार संहिता में युद्ध को धर्म माना गया है। युद्ध से विमुख होने वाला पुरुष क्षत्रिय कहलाने के योग्य ही नहीं है। भगवान क्षात्र धर्म की याद दिलाते हुए अर्जुन से कहते हैं- अर्जुन, यह तुम्हारा स्वधर्म है, इससे विचलित न होओ, और फिर युद्ध तो धर्म के लिए लड़ा जा रहा है, अन्यायी दुर्योधन की राज्य लिप्सा ने धर्म के समस्त मूल्यों को ताक पर रख दिया है, उनकी पुनःस्थापना तुम्हें करनी है, इस युद्ध से अधिक श्रेयस्कर तुम जैसे क्षत्रिय के लिए दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। क्षत्रिय धर्म के लिए प्रचलित स्वरूप में

से ही तर्क चुनते हुए भगवान कहते हैं-

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

अपने आप प्राप्त हुआ युद्ध खुला स्वर्ग का दरवाजा है। हे पृथानन्दन! वे क्षत्रिय बड़े सुखी हैं जिनको ऐसा युद्ध प्राप्त होता है ।

एक साधारण सैनिक का धर्म तो केवल अपने अधिकारी की आज्ञा का पालन है। उसे यह सोचना ही नहीं है कि जो आज्ञा उसे दी गई है वह पालन करने लायक है या नहीं, लेकिन अर्जुन सैनिक नहीं सेना नायक है। नायक के लिए यह विचारणीय है कि वह जिस युद्ध में स्वयं रत है और अन्य सैनिकों को भी लग रहा है कि वह कितना उचित है कितना अनुचित। उस समय की प्रचलित परम्परा के अनुसार अपने यश की वृद्धि अथवा राज्य के विस्तार के लिये युद्ध करना भी क्षत्रिय के लिए उचित माना गया था किन्तु उसके औचित्य पर कहीं कुछ शंका हो भी सकती थी पर अर्जुन जिस युद्ध के मैदान में खड़ा था वह उसके द्वारा नहीं आरंभ किया गया था। पाण्डव पक्ष ने तो अंत तक युद्ध को टालने का प्रयत्न किया था लेकिन जितना वे टालते गए उतनी ही मर्यादाएं, शील और धर्म की परम्पराएं नीलाम होती रही। इन सबको मूक होकर देखते रहना किसी भी वीर पुरुष का धर्म नहीं हो सकता। फिर अभी-अभी युद्धारम्भ का शंखनाद भी पहले कौरव पक्ष से ही हो चुका था अतएव अर्जुन के लिए यह युद्ध ऐसा था जो उसे अपने आप प्राप्त हुआ था और इस युद्ध का कारण कोई स्त्री या राज्य लोभ नहीं था।

कुछ लोग अंतिम वाक्य पर आपत्ति उठाते हुए कह सकते हैं कि युद्ध तो इसीलिए लड़ा गया था कि पाण्डवों को अपना राज्य चाहिए था और कौरवों ने उनकी स्त्री का अपमान किया था। वास्तव में बात यह नहीं। यह तो अपनी-अपनी भावनाओं पर निर्भर करता है। पाण्डवों ने कभी इस युद्ध को संकीर्ण मनोवृत्ति के साथ नहीं लिया था। द्रौपदी अवश्य अपने व्यक्तिगत अपमान की ज्वाला में जल रही थी लेकिन भगवान के लिए यह उसका नहीं,

नारीत्व का अपमान था, पाण्डवों के लिए प्रश्न हस्तिनापुर के राज्य का नहीं, मानव अधिकारों का था जो हर कहीं कुचले जा रहे थे। भगवान ने सदा पाण्डवों को इसी दृष्टिकोण से देखने के लिए प्रेरित किया था। क्षत्रिय का परम कर्तव्य है कि वह इनकी रक्षा करे अतः वे अर्जुन से कहते हैं कि यह युद्ध तुम्हारी कर्मभूमि बन तुम्हें स्वयं बुला रहा है, यह तो तुम्हें अपने धर्म पालन के लिए अवसर प्रदान कर रहा है। यह तो तुम्हारे लिए स्वर्ग के द्वार के भांति है।

स्वर्ग वह स्थान है जहां प्रत्येक सुख प्राप्त होते हैं। युद्ध भूमि में तो कष्ट ही कष्ट है फिर भी इसे स्वर्ग का द्वार इसलिए कहा जा रहा है कि जब युद्ध किसी अच्छे उद्देश्य से लड़ा जाता है तो उसमें खाया गया हर एक घाव सैनिक को आत्म संतोष देता है। क्षत्रिय के लिए आत्म बलिदान एक बहुत बड़ा सुख है यदि वह किसी आदर्श की रक्षा के लिए किया गया हो।

इस प्रकार भगवान अर्जुन द्वारा युद्ध के विरोध में उठाए गये हर तर्क का उत्तर दे रहे हैं। अर्जुन ने कहा था मैं इस युद्ध में कल्याण नहीं देख रहा– न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजन माहवे। भगवान कहते हैं कि धर्म युद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर क्षत्रिय के लिए कुछ नहीं। अर्जुन का विचार था कि कुटुम्बियों को मारकर हम सुखी नहीं होंगे। भगवान कहते हैं कि धर्म के लिये लड़ा जाने वाला ऐसा युद्ध क्षत्रिय के लिए कोई साधारण सुखकारी नहीं बल्कि स्वर्ग का द्वार है। इन सब तर्कों में देखें, तो सुख, श्रेय आदि देने वाला युद्ध नहीं, युद्ध के साथ लगा उपसर्ग 'धर्म' है। युद्ध यदि धर्म मानकर लड़ा जाय तो वह धर्म युद्ध यज्ञ के समान पवित्र है।

अर्जुन जिस विक्षिप्त मनोदशा में पहुंच चुका था, यह तर्क भी उसे जगा नहीं सका, लेकिन कुछ तो असर जरूर दिखा। अतः भगवान इसी दिशा में आगे और बोलते हैं ताकि वह चैतन्य हो।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

लेकिन यदि तुम इस धर्म युद्ध में नहीं लड़ना चाहते हो तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर तुम पाप के भागी बनोगे।

इस प्रकार भगवान कह रहे हैं- अर्जुन तुम युद्ध लड़ने में पाप की बात कर रहे हो, पाप तो युद्ध न लड़ने से लगेगा।

यहां 'पाप' का अर्थ समझना आवश्यक है। झूठ बोलना पाप है, हत्या करना पाप है, चोरी करना पाप है,इत्यादि वाक्यों से हम परिचित हैं। गरुड़ पुराण में बहुत सी बाते कही गई हैं जिन्हें करने से हमें नरक की प्राप्ति होती है। पाप-पुण्य की जो परिकल्पना, नरक -स्वर्ग का जो चित्रण उसमें दिया गया है वह हमें विश्वसनीय लगे या नहीं, लेकिन यह निश्चित है कि नर्क में ले जाने वाले जो कर्म बताए गए हैं, उन्हें करने के लिए किसी भी विचारशील मनुष्य का मन स्वीकार नहीं करेगा। झूठ, हत्या, चोरी आदि कुकर्म हम क्षणिक आवेश या किसी तात्कालिक लाभ के लालच में कर भी लेते हैं तो हमारा मन हमें धिक्कारता रहता है। कुछ तो मनुष्य के रूप में असुर होते ही हैं,उनकी चेतना का स्तर इतना गिरा हुआ होता है कि कुकर्म करने में उन्हें हिचक नहीं होती लेकिन उच्च कुल का सुसंस्कृत व्यक्ति अवश्य पछताएगा- हाय! यह मैंने क्या कर डाला, अब तो मैं किसी को मुंह दिखाने योग्य न रहा, या सबको पता चल जाएगा तो क्या होगा, कितनी बदनामी होगी, इससे तो मर जाना अच्छा होगा, आदि बातें सोच-सोच कर वह मन के चारों ओर स्वयं नर्क की सृष्टि कर लेता है और उसकी पीड़ा भोगता रहता है।

अर्जुन उच्च कुल का था, क्षत्रिय था, क्षात्र धर्म को सदा उसने सबसे अधिक महत्व दिया था, भगवान समझाते हैं- आज क्षणिक मोहावेश में तुम अपने धर्म से च्युत हो रहे हो, कल जब तुम्हें इसका ज्ञान होगा, समाज में तुम्हारी कीर्ति पर कीचड़ उछाला जाएगा तब तुम जीवन भर पछताओगे तथा पाप की यंत्रणा भोगोगे।

ऐसा लगा कि अर्जुन को ये शब्द कुछ चुभ रहे हैं, क्षत्रिय के लिए निज धर्म और कीर्ति से अधिक महत्वपूर्ण और कुछ नहीं होता। भगवान इसी तर्क को और हवा देते हुए कहते हैं:-

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।

लोग अनन्तकाल तक अपकीर्ति कर कथन करेंगे और कीर्तिवान पुरुष के लिए अकीर्ति मरण से भी बढ़ कर है।

साधारण व्यक्ति केवल व्यक्तिगत हानि-लाभ सोच कर कुछ कर भी लेता है तो न तो लोग उसे उतना धिक्कारते ही हैं और यदि धिक्कारें भी तो उसे अपनी बदनामी का विशेष डर भी नहीं होता। जिसकी इज्जत ही नहीं उसकी बेइज्जती क्या होगी। लेकिन अर्जुन यशस्वी था। भरत कुल का युवक, और अपने सभी भाई-बन्धुओं में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर था। उसके लाघव, कौशल और वीरता की गाथाएं दूर-दूर तक फैली थी, आज यदि वह युद्ध भूमि से भाग खड़ा होता है तो उसकी बदनामी केवल हस्तिनापुर में ही नहीं, सारे संसार में होगी। लोग एक-दो दिन बातें बनाकर रह नहीं जाएंगे, उसकी गाथा सदा-सदा के लिए गाई जाएगी और यह अवस्था उसके जैसे यशस्वी पुरुष के लिए निश्चित रूप से मृत्यु से अधिक भयावह होगी।

अर्जुन की संभावित अकीर्ति की गाथा विस्तार से भगवान बताते हैं:-

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

ये महारथी लोग तुम्हें भय के कारण रण से उपरत (हटा) हुआ मानेंगे, जिनकी दृष्टि में तुम सम्मानित थे वे अब तुम्हें लघुता से देखेंगे।

भगवान स्पष्ट बताते हैं कि कौरव पक्ष के महारथी किस प्रकार इस विषय पर चर्चा करेंगे। सर्वत्र एक ही बात होगी- 'ओह, हम समझते थे कि अर्जुन अद्वितीय वीर है लेकिन वह तो बहुत साधारण व्यक्ति निकला। वह युद्ध क्षेत्र से भाग ही निकला। असल में हम लोग इतनी अच्छी तरह व्यूहबद्ध खड़े थे कि बेचारा डर गया।'

क्या ऐसी बातों की संभावना भी किसी क्षत्रिय को सहन हो सकती है? भगवान इतने में ही रुकते नहीं-

अवाच्य वादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवा हिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६।।

तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, उससे अधिक दुःख और क्या होगा?

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन को और भी उत्तेजित कर रहे हैं - अर्जुन! महारथी तो फिर भी महान पुरुष होते हैं, वे तो तुझे कायर कहते हुए थोड़ी सी चर्चा कर शायद रह जाएं लेकिन उनकी कल्पना करो जो साधारण लोग हैं, और जरा उनके बारे में सोचो जो तुम्हारे वैरी हैं, तुम्हारा अहित चाहते हैं या तुमसे ईर्ष्या करते हैं। वे तो इतनी बातें बनाएंगे, ऐसी-ऐसी बातें बोलेंगे कि मैं अपने मुंह से कह भी नही सकता। सोचो! ये बातें जब तुम्हारे कान तक पहुंचेगी तो तुम्हें कैसा लगेगा? जिनके जीवन, जिनके भविष्य के चिंता में आज तुम युद्ध त्याग रहे हो उन्ही के मुंह से तुम्हें घोर निन्दा की बातें सुनने को मिलेगी तब कैसा लगेगा? सह पाओगे उस दुख को तुम? क्या इससे बढ़ कर दुख कुछ होगा?

अर्जुन को लग रहा था कि सुख और राज्य के लोभ से स्वजनों को मारने से बढ़ कर दुख की बात और कुछ नहीं। इसी का उत्तर भगवान ने दे दिया है। बस वे युद्ध को 'राज्य सुख लोभेन' न मानकर धर्म युद्ध मानते हैं।' धर्म युद्ध से च्युत होने से दुखदायी अर्जुन के लिए और कुछ नहीं हो सकता।

अंत में अपने सभी साधारण व्यावहारिक तर्कों का उपसंहार करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं:-

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

मरने पर तुम स्वर्ग को पाओगे, जीतने पर पृथ्वी का राज्य भोगोगे अतएव हे कौन्तेय, युद्ध करने का निश्चय कर उठो।

श्रीकृष्ण का यह दिव्य संदेश हम सबके लिए है जो स्वयं ही अपनी आशंकाओं में उलझे हुए अपने कर्तव्य से च्युत होकर बैठे हैं या जो संघर्ष से घबराते हुए संसार से भाग जाने की बात सोचते हैं। इस प्रकार जीवन की चुनौतियों से भागने से कल्याण कभी नहीं होगा, यश कभी नहीं मिलेगा, मन की शांति कभी प्राप्त नहीं होगी। चुनौतियों को निज घर्म के रूप में स्वीकार कर उनका सामना करना ही श्रेयस्कर है क्योंकि जीत में जीत है ही, हार भी हमारे लिए कल्याणकारी ही है क्योंकि वह हार नहीं आत्म बलिदान है।

इस प्रकार अर्जुन का आह्वान करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – अर्जुन, युद्ध का निश्चय करो और उठो। युद्ध का निश्चय किए बिना उठने में कोई लाभ नहीं। यदि अभी भी तुम्हारे मन का भय दूर नहीं हुआ तो रुको, मेरे पास और भी बहुत कुछ है कहने को।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

सुख दुख, लाभ हानि, जय पराजय में अपने को सम करो, तब युद्ध में प्रवृत्त होओ, इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन तुम्हें सबसे अधिक भय यही सता रहा है न कि तुम्हें पाप लगेगा। इसी पाप के भय से तुम मेरे यह बताने पर भी कि युद्ध तुम्हारे लिए स्वर्ग का द्वार है और युद्ध न करने पर तुम अपयश के भागी बनोगे, तुम युद्ध करने के लिए तैयार नहीं हो रहे हो। लो अब मैं तुम्हें वह उपाय बताता हूं जिससे युद्ध का पाप तुम्हें लगेगा ही नहीं । यहां पर युद्ध का अर्थ अर्जुन के लिए महाभारत युद्ध था लेकिन भगवान का तात्पर्य जीवन के तमाम संघर्षों से है। भगवान कहते है कि यदि मनुष्य सुख दुख, लाभ

हानि तथा जय पराजय में विचलित न हो तो उसे पाप नहीं लगता।

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति व्यास जी का एक अतिप्रिय मुहावरा है। तीन द्वन्दों का उल्लेख करने का एक विशेष प्रयोजन है। सुख-दुख हमारे मन का कार्य है, हानि-लाभ भौतिक स्तर पर होता है और जय-पराजय का निर्णय बुद्धि करती है। इस प्रकार ये तीनों द्वन्द्व शारीरिक मानसिक और बौद्धिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि संघर्ष करते समय हमारे व्यक्तित्व के ये तीनों पक्ष समत्व में रहे।

सोचने से लगता है कि ये तीनों द्वन्द्व तो हमारे शरीर मन बुद्धि के स्वाभाविक धर्म हैं, सुख दुख का भाव ही तो मन है, यदि इन दोनों में अंतर न हो तो फिर मनुष्य तो पत्थर हो जाएगा। भगवान की समत्व की परिभाषा इतनी संकीर्ण नहीं। वे तो इनके कारण विचलित न होने की कला बताने जा रहे हैं। सुख दुख आएं, लेकिन हमें शोक के कारण जड़ बना दे, कुछ काम लायक छोड़े ही नहीं, या लाभ के लोभ में अनुचित कार्य कराएं अथवा पराजय की खीज हमें इतना गिरा दे कि हम ऐसा कुछ कर डालें जिसके कारण हमें पछताना पड़े तो यह पाप है और इससे अछूता रहने का एक ही उपाय है कि समत्व का अभ्यास करें।

यह अस्वभाविक लगता है लेकिन जब हम गहरी निद्रा में होते हैं तो लाभ, हानि, यश, अपयश हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाते। जागृत अवस्था में शरीर मन बुद्धि के साथ गहन एकात्मता ही विक्षेप का कारण है।

नाव लहरों पर थपेड़े खा रही है, हम नाव में सवार हैं तो नाव के साथ हम भी डोलेंगे लेकिन यदि नाव से उतर कर किनारे स्थिर हो जाते हैं तो नाव के हिचकोले हमें ऊपर नीचे उछालते नहीं। अतः हमें सीखना होगा इस संसार में कर्म करते वक्त हम शरीर मन बुद्धि से परे रह कर आत्म स्वरूप को पकड़ें, तब इनकी अस्थिरताएं हमें क्षत विक्षत नहीं करेंगी।

यदि हम समुद्र में स्नान करना चाहते हैं तो हमें स्नान करने की कला आनी चाहिए। लहरें लगातार आती रहेंगी, कौन सी लहर के ऊपर से उछल कर निकल जाना है, कौन सी बड़ी लहर के आने पर हमें झुक जाना है ताकि वह ऊपर से निकल जाए, यह हमें सीखना होगा । इस कला को जानने वाला ही स्नान का आनन्द ले सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति तौलिया

लपेटे खड़े होकर प्रतीक्षा करे कि लहरें थम जाएं, या यह चाहे कि लहरें उसकी मर्जी के अनुसार आएं तो तौलिया रामजी तो खड़े ही रह जाएंगे। अपनी सुविधा के लिए बिना लहरों वाले समुद्र की चाह करना तो समुद्र को यह कहना है कि तुम समुद्र मत रहो, तालाब बन जाओ। यही मूर्खता हम जीवन में करते हैं। हम बिना लहरों वाला, बिना समस्याओं वाला जीवन चाहते हैं जबकि जीवन तो संघर्ष समस्याओं रूपी लहरों का ही दूसरा नाम है। लाभ हानि, सुख दुख, जय पराजय का नृत्य तो चलेगा ही। उनमें विचलित न होने, उनका साहस हिम्मत और प्रसन्नता के साथ सामना करने की कला हमें भगवान बता रहे हैं।

पहले भी भगवान ने इस प्रकार की बात कही थी- मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख-दुखदा। तब संदर्भ आत्मा परमात्मा, नित्य अनित्य का था। सुख दुख मात्र स्पर्श से उत्पन्न होते हैं, ये देह के धर्म हैं जो अनित्य है। अतः ये भी आते जाते रहते हैं, इन्हें सहन करो।

यहां वे बताने जा रहे हैं कि सहन किस प्रकार करते हुए कर्म करते जाना है। इस प्रकार भगवान बड़ी चतुराई से ज्ञान योग से कर्म योग पर आ रहें हैं। पहले उन्होंने आत्मा अनात्मा का ज्ञान दिया, फिर कहा- देह को अमर और शरीर को नाशवान जान युद्ध करने में हिचकिचाओ नहीं। फिर दूसरे तर्कों से युद्ध करते समय अपनी मानसिकता क्या बनाए रखनी है यह बताया। सही भावना के साथ किया गया कर्म कर्म-योग बन जाता है जिसकी विस्तृत जानकारी आगे भगवान देने वाले हैं लेकिन वे इसे अर्जुन के लिए एक नया नाम दे रहें हैं- बुद्धि योग।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।३९।।

यह जो तुम्हें सांख्य योग के संदर्भ में बताया गया है उसे अब तुम बुद्धि योग के रूप में सुनो जिस बुद्धि से युक्त हो कर तुम कर्मबन्धन को त्याग दोगे।

भगवान ज्ञान योग से कर्म योग पर आ रहे हैं। बात एक ही है 'समत्व' लेकिन विचार की प्रक्रिया कुछ भिन्न हो जाती है। ज्ञान से समत्व आता है। समत्व से कर्म कौशल आता है जो भगवान सिखाने जा रहे हैं, लेकिन एक दिक्कत है। अर्जुन ने वैदिक परम्परा से शिक्षा प्राप्त की थी। उसे समझाया गया था कि वेदों में दो काण्ड हैं, ज्ञान कांड और कर्म कांड।

ज्ञान कांड में जीवन का सत्य निरूपित किया गया और कर्म कंड में यज्ञ, याग, पूजा, आह्वान आदि की विधि विस्तार से बताई गई है। भगवान यहां यह बताना चाह रहे हैं कि अपने कर्म क्षेत्र में किस भावना के साथ काम करना चाहिए पर वे जैसे ही 'कर्म' शब्द का उपयोग करते, अर्जुन के दिमाग में कर्मकांड का चिरपरिचित चित्र उभर आता। तब कर्म का यह नया अर्थ, नया संदर्भ समझने में उसे बहुत कठिनाई होती, अतः भगवान एक शब्द का प्रयोग कर रहे हैं- बुद्धि योग यानि बुद्धि को परमात्मा के साथ युक्त कर जीवन संघर्ष की कला। इससे अर्जुन को समझ में आएगा कि भगवान पूजा विधि आदि नहीं बताने जा रहे हैं, नई बात सुनने के लिए उसकी उत्सुकता जागेगी और चैतन्य होकर सुनेगा।

लेकिन कुछ भी सीखने के पहले तो हम यह जानना चाहते हैं कि हमें अमुक ज्ञान से लाभ क्या होगा। इस मनोविज्ञान को समझते हुए भगवान उसी सांस में कहते हैं- अर्जुन, इस बुद्धि योग से तुम्हारे कर्मबन्धन छूट जाएंगे।

कर्मबन्धन शब्द को समझना आवश्यक है। हमलोग कोई काम आरम्भ करते हैं और पूरा कर लेने के बाद काम खत्म। फिर कर्मबन्धन क्या हुआ? कर्म कैसे बांधेगा?

वास्तव में कर्म तो क्षणिक ही होते हैं, जहां तक शरीर का संबंध है, कर्म के पूरा होते ही हमारा उसके साथ कोई बन्धन नहीं रहता, लेकिन कर्म पूरा होने के बाद हमारी मन-बुद्धि में एक विशेष प्रभाव छोड़ जाता है। वह उस कर्म की सुगन्ध, उसकी महक, उसकी वास होती है जिसे शास्त्रों में वासना कहा गया है। इस प्रकार के कर्मों से उत्पन्न अनेक वासनाएं मेरे मन और बुद्धि को इस प्रकार वशीभूत कर लेती है कि मेरे सारे वर्तमान कर्म उन पुराने कर्मों के प्रभाव से ही संचालित, और निर्देशित होते हैं। इस प्रकार हर व्यक्ति का एक चरित्र बन जाता है, हम कहने लगते हैं कि फलां का चरित्र ही ऐसा

है, वह तो यह करेगा ही। देखें यह चरित्र बनता कैसे है।

एक व्यक्ति किसी कारण वश किसी की हत्या करता है। पहली बार उसने यह काम किया है इसलिए बहुत ही घबराता है, उसके हाथ कांपते हैं। दूसरी हत्या करने में उसे विशेष परेशानी नहीं होती। तीसरी हत्या तो बहुत आसान लगती है। चौथी हत्या करते-करते उसे लगने लगता है कि यह तो एक कला है। पांचवी में उसे मजा आता है और धीरे-धीरे स्थिति यह हो जाती है कि यदि तीन चार दिन यूं ही गुजर जाए तो उसे अधूरा-अधूरा लगने लगता है। वह अवसर तलाशने लगता है। इस प्रकार हर हत्या उसके दिमाग में एक रंग भरती है जो गाढ़ा होता जाता है और उसका चरित्र बनाता है। फिर वह जो कुछ भी करता है, अपने चरित्र, अपने संस्कार या दूसरे शब्दों में अपने पूर्व कर्मों के प्रभाव से प्रेरित होकर ही करता है। यही कर्मबन्धन है। ये कर्म-बन्धन केवल हमारे वर्तमान कर्मों को ही प्रभावित नहीं करते, हमारे सोचने-विचारने, परिस्थिति का मूल्यांकन करने की क्षमता को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। यदि हमने दो-तीन गरीब व्यक्तियों पर दया कर उनकी मदद कर दी और संयोग से वे ठग निकले तो यह स्वाभाविक है कि अगली बार सहायता मांगने के लिए आने वाले के पीछे हम डंडा लेकर दौड़ेंगे।

इस प्रकार ये कर्मबन्धन हमारे विचारों क्रियाओं को इतनी बुरी तरह प्रभावित करते हैं कि हम किसी भी स्थिति को ठीक-ठीक मूल्यांकित ही नहीं कर पाते। बात कही कुछ जाती है हम अर्थ कुछ और लगाते हैं, ऐसी स्थिति में हमारे निर्णय सही कैसे होंगे? हमारे कर्म कल्याणकारी कैसे होंगे? अत: यदि कोई विद्या ऐसी है जो हमें कर्म-बन्धन से मुक्त करा सके तो निश्चय ही उससे लाभदायक विद्या हमारे लिए कुछ हो ही नहीं सकती। इसके विषय में भगवान अभी और बहुत कुछ कहना चाहते हैं।

द्वितीय अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण बुद्धि योग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यह बुद्धियोग हमें कर्म बंधन से मुक्त कर सकता है। बुद्धियोग, अर्थात् काम करने की एक विशिष्ट शैली, जिसमें कर्म करते वक्त बुद्धि परमात्मा से जुड़ी रहे। यह अर्जुन जैसे वैदिक युग के विद्यार्थी के लिए सर्वथा नई बात थी। कोई भी नई वस्तु यदि बाजार में लोकप्रिय

बनानी हो तो बहुत विज्ञापन की आवश्कता होती है। विज्ञापन कला में संभवत: श्रीकृष्ण जैसा कुशल कोई दूसरा हुआ ही नहीं। बुद्धियोग के और लाभ बताते हुए वे कहते हैं-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।४०।।

इसमें अभिक्रमण दोष नहीं, प्रत्यवाय नहीं होता तथा इसका थोड़ा भी व्यवहार महान भय से त्राण दिलाता है।

कार मालिकों को कार में पेट्रोल तो भरना ही होता है पर साथ में मोबिल और रेडियेटर में पानी की आवश्कता होती है। यदि उन्हें कहा जाए कि ऐसी कार है जिसमें मोबिल पानी की जरूरत नहीं पड़ती तो ऐसा कौन खरीदार है जो उसकी और नहीं दौड़ेगा? भगवान भी बुद्धियोग का विज्ञापन कुछ ऐसी ही शैली में कर रहे हैं।

अभिक्रमण तथा प्रत्यवाय ये दो दोष वैदिक पद्धति के सबसे बड़े दोष थे। किसी भी पूजा विधि में अनेक कर्मकांड होते हैं, उनका क्रम निर्धारित होता है। हम पूजा पूरी तो कर लें पर कुछ उलट-पलट हो जाए तो फल नहीं मिलता है। जैसे खेती करने के लिए पहले जुताई फिर बुआई, सिंचाई, निराई, कटाई आदि का क्रम है, तभी हमें अनाज मिलता है। हम बीज को बो पहले दें, जोतें बाद में तो फसल नहीं मिलेगी। इसे अभिक्रमण दोष कहते हैं। वैदिक कर्मकांड में तो जरा सी उलट-पलट पूजा को निष्फल कर देती है।

दूसरा दोष है प्रत्यवाय, अर्थात् कर्मकांड में कुछ भूल या असावधानी होने से फल उलटा ही पड़ जाता है। पुत्रेष्टि यज्ञ में भूल हो जाने से पुत्र होने के बदले हो सकता है कि किसी की मृत्यु ही हो जाए। जैसे कोई अपने घर में बैठ कर किसी की हत्या के षडयंत्र से बम बना रहा हो और कोई एक तार यदि गलत जुड़ जाए तो बम वहीं फट कर उसके शरीर को क्षत विक्षत कर सकता है, उसके घर को खंडहर में बदल सकता है। काम जितना खतरनाक होगा, यानि जिन शक्तियों का उपयोग हम करना चाहते हैं वे जितनी

शक्तिशाली होंगी, सावधानी उतनी ही अधिक आवश्यक है। सकाम अनुष्ठानों में विभिन्न शक्तियों का आह्वान अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है। अत: पूर्ण सावधानी न रखने पर उलटे फल की आशंका रहती है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि उनके बताए तरीके से अभीष्ट की प्राप्ति भी हो जाएगी और ये दोनों दोष भी नहीं रहेंगे। इसके साथ ही तीसरा गुण वे और जोड़ते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है कि लम्बी अवधि तक इसका अभ्यास करने पर ही फल मिलेगा। इस योग का थोडा सा भी अभ्यास तुम्हें महती भय से मुक्त कर सकता है।

बुद्धियोग के विज्ञापन के पश्चात् भगवान उसकी और जानकारी देते हुए कहते हैं:-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।४१।।

हे कुरुनन्दन इस (बुद्धियोग) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है। जो अनिश्चयपूर्ण स्थिति में रहते हैं उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं वाली और अनन्त दिशाओं की होती है।

अर्जुन अभी तक भ्रम की स्थिति में पड़ा हुआ था, उसकी बुद्धि अनिश्चय की स्थिति में थी, क्या करे क्या न करे यह समझ नहीं पा रहा था। बुद्धि जब इधर उधर दौड़ती है तो वह पुरुष कितना भी ज्ञानी, विद्वान या शक्तिशाली क्यों न हो, कुछ नहीं कर पाता, उसकी सारी क्षमताएं छिन्न-भिन्न हो जाती है लेकिन यदि बुद्धि को एक निश्चित लक्ष्य में स्थिर कर अपनी क्षमताओं का कुशलता से एक ही दिशा में उपयोग किया जाए तो वह बुद्धि एक शक्तिशाली और अजेय हथियार साबित होती है जिसके आगे कोई भी बाधा टिक नहीं सकती। अतीत में भोगे हुए दुख की यादें, वर्तमान की उत्तेजनाएं तथा भविष्य का भय, इन विचारों में मनुष्य की शारीरिक मानसिक और बौद्धिक शक्ति इतनी अधिक खर्च हो जाती है कि वह किसी काम लायक रहता ही नहीं। भगवान तो अर्जुन को कुशलता पूर्वक कर्म करने की कला बताने जा रहे हैं इसलिए पहला उपदेश है बुद्धि को निश्चयात्मक रखना।

जब हर वक्त हमारे सामने स्थिर लक्ष्य का चित्र रहता है तो बाधाएं भी उत्साहवर्द्धन करती है। आजादी की प्रतिज्ञा करने वाले हंसते-हंसते कष्ट सहन करते हुए भारत माता की जय-जयकार करते रहे क्योंकि उनके सामने एक ही विचार था - आजादी! आजादी पा लेने के बाद उन्हीं नेताओं का क्या हश्र हुआ हम सब जानते हैं। अब उन्हें किसी निश्चित लक्ष्य की तलाश तो थी नहीं अतः बुद्धि नाना प्रकार के सुख साधनों की और दौड़ती रही। भोग, ऐश्वर्य, पैसा, पद, प्रतिष्ठा आदि ने उन्हीं आजादी के मतवालों को तरह-तरह की अंगूठियां धाारण करने, तांत्रिक योगियों से अनुष्ठान करवाने ही नहीं, गुण्डों हत्यारों तक को सर पर चढ़ाने को विवश कर दिया। ये ही कर्मकांड अर्जुन के समय विभिन्न वैदिक अनुष्ठानों और यज्ञों के रूप में प्रचलित थे जिनके द्वारा लोग नाना प्रकार की सांसारिक उपलब्धियां प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। भगवान श्रीकृष्ण के काल तक इनका दुष्प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि उन्हें इनकी तीखी आलोचना करनी पड़ी।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

हे पार्थ, विद्वान किन्तु अज्ञानी पुरुष वेद पर विवाद करते हुए बड़ी-बड़ी बातें करते हुए कहते हैं कि इसके अलावा कुछ भी नहीं है।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।४३।।

कामना से भरपूर, स्वर्ग प्राप्ति को ही लक्ष्य समझने वाले नए जन्म रूपी कर्म फल देने वाले तथा भोग और ऐश्वर्य के लिए अनेकों प्रकार के विशेष कर्मकांड में लगते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।४४।।

भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले इन व्यक्तियों का मन उन्हीं की ओर खिंचा रहता है, उनकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती, वह समाधि में स्थिर नहीं हो पाती।

इन तीन श्लोकों में वेद व्यासजी ने वैदिक पद्धतियों की कड़ी आलोचना की है। इन यज्ञ, याग, पूजा, अनुष्ठान आदि के द्वारा लोग विभिन्न देवी-देवताओं का आह्वान करते थे। ये देवी-देवता विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। किसी एक विशेष शक्ति पाने के लिए उनकी पूजा की जाती है। जैसे किसी को उद्योग लगाना हो तो उद्योग मंत्री को प्रसन्न करने की कोशिश करता है, कृषि संबंधी कोई कार्य कराना हो तो कृषि मंत्री की भेंट पूजा होती है उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के भोग, ऐश्वर्य, सिद्धि आदि के लिए विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। एक विशेष देवी-देवता एक ही प्रकार का वर दे सकते हैं और वह भी तब, जब उनकी पूजा विधिपूर्वक, बिना अभिक्रमण दोष के, त्रुटि रहित तरीके से की जाए। इसके लिए बहुत ही अधिक क्रियाएं करनी होती है, नाना प्रकार की सामग्री जुटानी पड़ती है, प्रत्यवाय यानि उल्टा फल पड़ने का डर भी रहता है, फिर भी भोग और ऐश्वर्य की कामना से पीड़ित लोग इनमें लिप्त होते हैं। वे इस जन्म के सुख की चाह और अगले जन्म में सुख भोगने या स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से भी कर्म करते हैं। इस प्रकार उनकी बुद्धि कभी इस कामना में भटकती है कभी उस कामना के पीछे खिंचती है।

अब स्वर्ग की उपलब्धियों का भी मूल्यांकन कर लें। स्वर्ग की जो परिकल्पना हमारी है उसके अनुसार वहां हर प्रकार के ऐशोआराम उपलब्धा हैं, हमारा यौवन क्षीण नहीं होता, अप्सराओं से घिरे रहते हैं, काम नहीं करना होता, जो चाहते हैं वही हाजिर हो जाता है। यह सब हमें उन यज्ञों के पुण्य के फल स्वरूप मिलता है। निश्चित रूप से जैसे-जैसे हम उन भोगों को भोगेंगे, हमारे पुण्य क्षीण होंगे ही और फिर हमें वापस जन्म लेना होगा ताकि फिर और कर्म करें और फिर उनका फल भोगें।

वर्तमान समय में हम स्वर्ग को हिलस्टेशन की छुट्टियां कह सकते हैं। साल भर की संचित कमाई (पुण्य) हमें हिलस्टेशन की सैर कराती है, मजा ही मजा है और जब पाकेट का पैसा (पुण्य) क्षीण हो जाता है तो हम

उसी पुरानी जिन्दगी में लौट आते हैं जहां सुबह से रात तक काम, मक्खी, मच्छर तथा गैस और राशन की लाईनें हैं, और भगवान कहते हैं कि अपने को पंडित और वेदज्ञ समझने वाले कहते हैं कि जीवन यही है और कुछ भी नहीं। यह जन्म मृत्यु का क्रम ही कैसे अंतिम गति हो सकता है?

लेकिन जहां पंडित ही अज्ञानी वहां साधारण व्यक्ति की क्या बिसात। इस प्रकार स्वर्ग प्राप्ति को ही जीवन मान लेने वाले यथाशक्ति यज्ञ, दान, तप आदि सकाम भाव से करते हैं।

वेदव्यास जी ने यहां वेद पर सीधा प्रहार किया है। वेदों का संकलन तो उन्होंने ही किया था। फिर इतने कड़े शब्दों का क्या अभिप्राय है? वेदों के चार खण्ड हैं- मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। मंत्र और ब्राह्मण में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का वर्णन, सकाम कर्म तथा उनकी विधियों का वर्णन है। ये वर्णन बहुत ही विस्तार पूर्वक किए गए हैं। कामना की पूर्ति के लिए नाना प्रकार की क्रियाओं वाले आयोजन करने पड़ते हैं। इन्हें कर कर के जब इनकी निस्सारता का बोध हो जाता है तो मनुष्य की रुचि उपासना में होती है जो आरण्यक का विषय है।

इसके बाद उपनिषद् में बताया गया है कि वास्तव में जीवन का सत्य क्या है। इन भोग, ऐश्वर्य की कामना से मुक्त होने के बाद उपासना द्वारा ही इसे जाना जा सकता है और यह बहुत कठिन और अप्रीतिकर जान पड़ता है अत: लोग ब्राह्मण भाग में ही रुचि रखते थे। कालांतर में उपनिषदों का अध्ययन कुछ ऋषि मुनियों, उनके शिष्यों तक ही सीमित रह गया और यज्ञ आदि कर्मकांडों का प्रचलन बढ़ता गया। गीता को उपनिषद् रूपी गाय का अमृत मय दूध कहा गया है।

भगवान को उपनिषदों का उपदेश देना है जो लोकप्रचलित नहीं है। प्रचलित वस्तु की बुराई बताए बिना कोई नई वस्तु की ओर आकर्षित कैसे होगा? वास्तव में कर्मकांड तो ऐसा है जैसे बच्चों को चाकलेट का लालच देकर होमवर्क कराना। शुरु-शुरु में जब उसकी रुचि पढ़ाई में नहीं होती, वह केवल चाकलेट के लालच में सुंदर लेख लिखता है। लालच से ही सही, काम अच्छा करने पर उसकी स्कूल में टीचर प्रशंसा करते हैं तो उसे आनंद मिलता

है जो चाकलेट के आनंद से कहीं अधिक है। इसके बाद वह स्वयं पढ़ाई करने लगता है। ये कर्मकांड भी हमें पहले तो कामना की पूर्ति के लिए तप करने, कष्ट उठाने, मन को एकाग्र करने के लिए प्रेरित करते हैं। यह शक्ति अर्जित करने के बाद ही मन को निश्चयात्मक और बुद्धि को व्यवसायात्मिका बना कर समाधि में लगा सकते हैं अत: सबसे आपत्तिजनक बात तो कर्मकांड को ही मानव जीवन की इतिश्री समझ लेना है। भगवान की सलाह इसी के ऊपर उठ कर नया क्षितिज तलाश करने की है। भगवान कहते हैं –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

तीन गुण वेद के विषय हैं, तुम इन गुणों से ऊपर उठो। हे अर्जुन, तुम निर्द्वन्द्व बनो, नित्य सत्व स्थित रहो, योग क्षेम से मुक्त आत्मवान बनो।

भगवान धीरे-धीरे भूमिका तैयार कर रहे हैं और अर्जुन की उत्सुकता कर्मयोग में जगा रहे हैं जिसे उन्होंने अर्जुन के लिए बुद्धियोग का नाम दिया है। जो कर्मयोगी है और जो नहीं, ऐसे दोनों व्यक्ति शारीरिक काम कर सकते हैं लेकिन उसके पीछे उनकी बुद्धि अलग-अलग प्रकार से कार्य करती है अत: इसे बुद्धियोग कहना उचित ही है। परिमार्जन तो पहले बुद्धि का ही करना है। पहले कहा जा चुका है कि द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण गीता की अनुक्रमणिका की भांति है। यहां भगवान कहते हैं वेद के विषय तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों सत्व, रजस का तमस, का विशद विवेचन वे चौदहवें अध्याय में करते हैं। यहां के लिए बस इतना समझ लेना काफी है कि प्रकृति इन तीन गुणों का खेल है और इसी खेल में हम योग क्षेम के लिए जूझते रहते हैं। योग का अर्थ है जोड़ना अर्थात् सुख साधन, धन दौलत आदि जुटाना, क्षेम का अर्थ है जोड़े गए धन की सुरक्षा करना। सृष्टि का हर प्राणी निरंतर इन दोनों क्रियाओं में लगा रहता है। भगवान अर्जुन को सलाह देते हैं कि तुम तीन गुणों, द्वन्द्वों, योग-क्षेम से ऊपर उठ कर सत्व में स्थित होओ। द्वन्द्वातीत होने की बात भगवान पहले भी कई बार कह चुके हैं। प्रश्न तो यह है कि ऐसा होना चाहिए वैसा

होना चाहिए यह कहना तो सहज है लेकिन उसका व्यवहारिक उपाय भी तो बताना जरूरी है। डाक्टर यदि ऐसी दवा लिख दे जो कहीं से लाना संभव ही न हो तो ऐसा प्रेस्क्रिप्शन किस काम का?

गीता तो व्यवहार की कला है,जीवन का विज्ञान है जो हमें कर्म करने का सही तरीका सिखाती है अतः भगवान केवल निर्द्वन्द्व आदि होने का उपदेश देकर कैसे छोड़ देंगे? इसी श्लोक में वे इसके उपाय का भी जरा सा आभास मात्र दे देते हैं ताकि अर्जुन जब स्वयं उत्कंठित हो कर प्रश्न पूछे तो विस्तार से बता सकें। यह व्यवहारिक विधि है- आत्मवान होना। जब तक हम शरीर मन बुद्धि की वासनाओं को पकड़ते रहेंगे तब तक जीवन की प्रवंचनाए हमें छलती रहेंगी कभी चैन नहीं लेने देंगी। वासनाओं से ऊपर आत्मा को जानेंगे तब यह सब अपने आप शांत हो जाएगी। अनंत आनंद की प्राप्ति के बाद इन सांसारिक सुखों की क्षणिक जगमगाहट हमें प्रयोजनहीन मालूम देगी। भगवान कहते हैं-

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

ब्रह्म को जानने वाले के लिए वेद का उतना ही प्रयोजन है जितना कि बाढ़ में पानी के एक छोटे स्रोत का।

यहां एक बार फिर स्मरण कर लेना चाहिए कि वेद का अर्थ का यहां कर्मकांड है जिसे हम सांसारिक ज्ञान कह सकते हैं। संसार के साथ व्यवहार में उनकी आवश्यकता कम नहीं लेकिन जब इसके परे अनन्त को जान लिया जाए तो फिर यह सीमित ज्ञान अपना प्रयोजन खो बैठता है।

गांव के लोगों के लिए कुंआ बहुत ही महत्वपूर्ण है लेकिन जब बाढ़ आती है तो सर्वत्र जल ही जल हो जाता है। चारों और अनन्त जल राशि दिखती है जिसमें कुंआ भी समा चुका है, फिर घड़ा बगल में दबा कर रोज की तरह पानी भरने जाने का कोई मतलब ही नहीं रह जाता।

जिस प्रकार छोटे बच्चों के लिए पहाड़ा याद करना या उंगलियों की

सहायता से जोड़ घटाव करना बहुत जरूरी है लेकिन वही बालक जब M.Sc कर लेता है तो इस प्रकार गिनने का प्रयोजन नहीं रहता। उसी प्रकार उच्चतम ज्ञान के बाद क्षणिक सुखों की लालसा ही नहीं रहती, प्रयोजन क्या होगा।

बुद्धियोग में स्थित होने के बाद कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रहती ऐसी बात नहीं। कर्म तो जब तक मनुष्य जिन्दा है उसे करना ही होता है। योगी भी कर्म करता है और साधारण व्यक्ति भी, किन्तु अंतर उसके पीछे की भावनाओं और विचारों का होता है और यही अंतर नरेन्द्र को स्वामी विवेकानन्द बना देता है। जीवन का हर कर्म कैसे कर्मयोग बन सकता है यह गीता हमें सिखाती है। हमारे शरीर मन बुद्धि तथा परमात्मा के बीच वासना का आवरण है। योग का अर्थ है परमात्मा से जुड़ना। जब तक आवरण रहेगा तब तक सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है? अतः वासना का क्षय हमारे कर्मों का उद्देश्य होना चाहिए। आवरण हटने के बाद जीव अपने आप शिव से एकाकार हो जाता है। गीता का अगला श्लोक कर्मयोग की सूक्ति के रूप में हर जगह उद्धृत किया जाता है। इस श्लोक में कर्म करने के पीछे मन-बुद्धि की क्या स्थिति हो, यह बताया गया है ताकि कर्म कर्मयोग बने अर्थात् कर्म वासना को उत्पन्न करने वाला नहीं, उसे क्षय करने वाला बने। भगवान कहते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है, फल में कदापि नहीं। कर्म का फल तुम्हारा उद्देश्य न हो, अकर्म में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।

इस श्लोक के चार भाग हैं। चारों मिलकर कर्म के ऐसे स्वरूप को सामने रखते हैं जो हमारा ब्रह्म से योग ही नहीं कराते, हमारे सांसारिक जीवन को भी सफल, सुखी और कीर्त्तिमय बनाते हैं।

पहला भाग कहता है, 'कर्म करने का अधिकार हमारा ही है।' बहुत से भाग्यवादियों का मानना है कि कर्म भी भाग्य ही कराता है- भाग्य में लिखा

होगा तो अपने आप ही मिल जायेगा। ऐसा मानने वाले हर समय परिस्थिति के सामने नतमस्तक रहते हैं, उससे जूझने का उत्साह उनमें नहीं होता। यह बहुत नकारात्मक प्रवृत्ति है जो मनुष्य को असफलता के अलावा किसी और दिशा में ले जा ही नहीं सकती। वास्तव में भाग्य तो हमारे कर्म ही बनाते हैं। आज जो भोजन हम कर रहे हैं वह कल तक की मेहनत का फल है, कल जो फसल हम काटेंगे वह आज की बुआई, सिंचाई पर निर्भर करेगी। हम अमुक परिस्थिति में क्या करेंगे, यह एक हद तक हमारे पूर्व संस्कारों से प्रभावित जरूर होता है, लेकिन हमें यह अधिकार है कि हम पूर्वाग्रहों से उपर उठ कर सकारात्मक निर्णय लें और मेहनत करें। हमें अपने इस अधिकार का भरपूर फायदा उठाना ही चाहिए, इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

दूसरा भाग कहता है- 'फल में अपना अधिकार कदापि न समझें।' वास्तव में हम अपने कर्म के अनुसार फल की बड़ी-बड़ी आशाएं बांध लेते हैं, लेकिन कर्म और उसका फल सीधे जोड़-घटाव के हिसाब की भांति सरल नहीं। यह बहुत जटिल है। फल केवल हमारे ही कर्मों पर नहीं, उससे जुड़े अनेक लोगों के कर्मों पर भी निर्भर करता है। इसलिए थोड़ा-सा काम करते ही फल का दावा ठोंकने वाले को निराशा ही निराशा मिलेगी।

जैसे शत्रु को मारने के लिए सैनिक निशाना लगाकर तीर छोड़े, लेकिन इस बीच शत्रु वहां से हट जाए तो वह खाली ही जायेगा। फल मारने और मरने वाले, दोनों के कर्मों पर निर्भर करता है, लेकिन सैनिक के अधिकार में तो निशाना लगा ही है न? उसे अपने इस अधिकार के लिए पूरे कौशल का प्रयोग करते समय भी इस बात के लिए तैयार रहना चहिए कि शत्रु नहीं भी मर सकता है, तभी वह निराशा और अवसाद से बच पायेगा। फल पर अधिकार नहीं, यह बात तो अमीरों के दर्शन जैसा लगता है जिसमें मजदूर को केवल काम में पिसते रहना है और भरपेट रोटी का भी ठिकाना नहीं हो। ऐसी बात नहीं। फल तो मिलेगा ही। चूंकि वह किस रूप में मिलेगा यह हम नहीं समझ सकते अतः भगवान की सलाह है कि कर्म करते वक्त फल पर अपना अधिकार ही न मानें, नहीं तो उसकी आसक्ति तथा उससे उत्पन्न दुश्चिन्ताएं हमें मन लगाकर काम करने ही नहीं देगी। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है।

हम बैंक में रुपये जमा करते हैं। अब मान लीजिए के कोई रात के वक्त देखे कि बैंक में कोई नहीं है और डंडा-कम्बल लेकर बैंक के दरवाजे पर पहरा देने पहुंच जाये, क्योंकि उसने हजार रुपये जमा कराए हैं तो ऐसे व्यक्ति को हम क्या कहेंगे। हमने जो रुपये जमा कराए हैं, वह उचित ब्याज समेत मिलेगा ही चाहे बैंक में डाका क्यों न पड़ जाये। हमारे हिसाब के रुपये सुरक्षित हैं, इस विश्वास के साथ हम निश्चिन्त होकर व्यवसाय करते रहते हैं, हर दिन बैठ कर गिनते और देखते नहीं रहते कि हमारे खाते में आज का ब्याज आया कि नहीं।

हमें भगवान पर बैंक मैनेजर जितना विश्वास नहीं। उसका हिसाब तो एक सुपर कम्प्यूटर करता है जिसमें हमारे एक-एक सुकर्म और दुष्कर्म लगातार फीड किए जा रहे हैं, फल कब किस रूप में मिलेगा, यह हम अभी नहीं समझ सकते अत: भगवान की सलाह है कि उस पर अपना अधिकार समझे बिना कर्म करते रहो। फल तो कर्म की छाया की भांति उसके पीछे लगा ही रहेगा। चलते वक्त अपनी छाया को मुड़-मुड़ कर देखने की आवश्यकता नहीं होती। हर एक कर्म के साथ बहुत से पिछले कर्म जुड़े हुए हैं जो उसके फल को प्रभावित करते हैं, हम एक छोटा-सा काम करेंगे और तुरन्त उसके फल की चाह करेंगे तो निराशा ही हाथ लगेगी, क्योंकि जरूरी नहीं कि अभी के काम का फल अभी ही उसी रूप में मिल जाये, जैसे हम सपने देख रहे हैं। अत: ऐसी स्थिति में निराशा और अवसाद ही पल्ले पड़ेगा और कुछ नहीं। गीता का यह श्लोक तो हमें सफलता की राह दिखाने वाला है जिसमें कर्म पर अधिकार समझना और फल पर अधिकार न समझने के साथ-साथ तीसरी बात जो आवश्यक है, वह है- 'फल को हेतु मान कर ही कर्म न करना।'

यही तीसरी बात ही हमारी बुद्धि को इस प्रकार परिवर्तित करती है कि हर कर्म कर्मयोग बन जाये। कर्म का फल तो मिलेगा, लेकिन केवल फल की ही सोचकर काम करने वाले कभी जीवन का आनन्द नहीं उठा पाते। उनकी रुचि फल में होती है, कर्म में नहीं। कर्म में अरुचि होने के कारण काम बोझ भी मालूम देता है और अच्छी तरह होता भी नहीं। तब फल भी अच्छा नहीं मिलता।

नौकरी करने वाले कुछ लोग यही सोचते हैं कि वे तीस दिन काम

इसलिए करते हैं कि पहली तारीख को वेतन मिलेगा जिससे वे अपने परिवार का खर्च चला सकते हैं। उन्हें किसी तरह आफिस में हाजिरी पूरी करनी होती है, उनके मन में यह नहीं आता कि मुझे कुछ कर के दिखाना है, अपनी कम्पनी को कुछ देना है, अपने ज्ञान का पूरा उपयोग करना हैं। वे तो थोड़े से काम से ही झुंझलाते रहते हैं, चार बजने की राह में दो बजे से सिगरेट पी-पी कर स्वास्थ्य भी खराब करते हैं और जीवन उसी आफिस में कुढ़ते, झींखते, मांगों की पूर्ति के लिए हड़ताल करते निकल जाता है। वे एक मजदूर से अधिक कुछ नहीं होते। लेकिन जो थोड़े से लोग कर्म में आनंद और गौरव अनुभव करते हैं, जिनका लक्ष्य वेतन से ऊंचा होता है, वे आफिस में तरक्की करते हैं और प्रसन्नचित्त भी रहते हैं। यही कर्म करने की कला है। केवल अपने लिए फल भोगने की न सोचकर, किसी को कुछ देने की भावना हो तो कर्म सेवा बन जाता है, इसमें करने वाला कभी नुकसान में नहीं रहता। फल तो उसे सृष्टि के विधान के अनुसार मिलता ही है और खुशी, उत्साह, उमंग, हर्ष अलग से।

भगवान अपनी बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देना चाहते हैं, फल में अधिकार नहीं और फल के लिए कर्म मत करो, कहने से कोई यह न समझ बैठे कि फल के विचार कि बिना कैसे कर्म हो सकता है और बिना फल के कर्म करें ही क्यों? भगवान तो ऐसी सलाह देकर निष्क्रियता को प्रोत्साहित कर रहे हैं, अतः भगवान उसी सांस में कहते हैं- 'अकर्म में तुम्हारी रुचि कभी न हो'। भगवान तो सारा उपदेश कर्म को सुन्दरतम बनाने के लिए ही दे रहे हैं। फल की चिन्ता छोड़ना तो वास्तव में कर्म को सफल बनाने के लिए है। कर्म ही हमारा अधिकार है, इस अधिकार का भरपूर उपयोग हमें करना ही है, इसी में जीवन की सार्थकता है।

कर्म, फल की चिंता से न करें तो किस भावना से करें? भगवान अगले श्लोक में बताते हैं-

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

हे धनंजय, योगस्थ होकर, संग (मोह) का त्याग कर, सिद्धि असिद्धि में समान रहते हुए कर्म करो। समत्व को योग कहते हैं।

साधारणत: व्यक्ति जब कोई काम करता तो वह यही सोचता है कि इससे मुझे अमुक लाभ होगा, जिसके कारण मेरी या मेरे परिवार वालों की इच्छा पूर्ति होगी, वे सुखी होंगे। ऐसे में किसी कारण से वह असफल होता है, उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती तो वह दुखी होता है। सिद्धि मिलने पर खुशी से नाचता है, फिर नए फल की चाह से नए कर्म में जुट जाता है और जन्म से मृत्यु तक सफलता, असफलता, सुख दुख के झूले पर झूलता रहता है। यही उसका जीवन है, इसके परे उसके पास कुछ 'पकड़ने' को नहीं।

गीता हमें जीवन की अनूठी शैली सिखाती है जिसमें काम कुछ नये नहीं करते हुए भी भावना को बदलना है, उसी से सारा चमत्कार आ जाएगा, हम भोगी न होकर योगी बन जाएंगे- बिना घर बार त्यागे।

जैसे साधारण अवस्था में एक क्षत्रिय योद्धा युद्ध करता है जिसमें विजय मिलने पर वह राजा होगा, उसे सम्मान मिलेगा, उसकी पत्नी रानी बनेगी, बेटा युवराज कहलाएगा आदि। अर्जुन इन सुख, सिद्धि, लाभ, जय को त्याग कर हिमालय में जाना चाहता था किन्तु भगवान ने उसे जाने से रोका। हमें त्याग सुख का नहीं, सुख-दुख का करना है। लाभ का नहीं लाभ-अलाभ का करना है, तभी हमारा मन शांत होगा। हिमालय की गोद हमें शांति नहीं दे सकती। साधारणत: तो व्यक्ति चाहता है कि दुख छूट जाए, हानि न हो, पराजय न हो। सुख मिले, लाभ मिले, यश मिले। यानि वह दुख, हानि और पराजय का ही त्याग करना चाहता है। जो सन्यास लेने की बात सोचते है वे सुख का त्याग करने की कोशिश करते हैं ताकि उनका योग भगवान से हो सके। वे धन का, परिवार का, भोगों का सुख त्याग कर हिमालय जाते हैं।

भगवान गीता में न केवल दुख का त्याग करने की बात कहते है न केवल सुख की। वे दोनों को त्यागने की बात कहते हैं। प्रश्न यह उठता है कि कहीं भी रहे, कुछ भी करें, सुख या दुख दोनों में से एक तो आएगा ही। एक न एक के लिए तो हमें अपने को तैयार रखना ही होगा। इसी प्रश्न का समाधान इस श्लोक में हमें मिलता है- हम समत्व धारण करें । न सुख

की चाह रखे, न दुख से द्वेष करें, दोनों में यथासम्भव निर्विकार रहना ही समत्व है। भगवान के विचार से यही योग है।

भगवान अब तक बार-बार बुद्धि योग शब्द का प्रयोग कर रहे थे, इस श्लोक में उन्होंने योग की एक परिभाषा दी है- **समत्वं योग उच्यते।**

मन को ठहरने के लिए कोई जगह चाहिए। साधारणतया मन फल की आसक्ति में ठहरता है। शरीर कर्म करता है, मन फल और फल से मिलने वाले सुख दुख में रमा रहता है। पिछले श्लोक में भगवान ने एक बात बतायी कि मन को फलासक्ति से हटाओ और अब बता रहे हैं योग में लगाओ। और योग का अर्थ है- समत्व, अर्थात् सिद्धि असिद्धि में सम रहना। समत्व आएगा संग को त्यागने से।

यहां संग शब्द को ठीक से समझना आवश्यक है। संग शारीरिक साथ तो हो नहीं सकता, दो चाहने वाले शरीर से चिपक नहीं जाते, संग तो मानसिक होता है, दूर बैठे भी प्रिय के विषय में सोचते हुए वे मानसिक रूप से संग रहते हैं। इसका दूसरा नाम है मोह।

हमें सबसे अधिक प्रेम स्वयं से होता है, दूसरे से प्रेम हम तभी करते हैं जब प्रेम करना हमें अच्छा लगता है। हमें कोई पूछे कि तुम्हें किससे कितना प्रेम है तो हम मन में विचार करेंगे कि फलां के बिना मेरी जिन्दगी में कितना अधूरापन लगेगा, फलां की मुझे कितनी चाह है। बस यही 'मैं और मेरी चाह' ही संग है जो हमें उस वस्तु या व्यक्ति से मानसिक रूप से बांध देती है, हम उनके गुलाम हो जाते हैं और उनके इशारों पर नाचते हैं। इसमें मुक्ति कहां-स्वच्छन्दता कहां? मुक्ति तो तभी मिलेगी, अस्थिरता तभी दूर होगी, अखण्ड शांति का अनुभव तभी होगा जब हमारे ये बंधन टूटेंगे। हम अपनी चाहनाओं से मुक्त होंगे, तब हमें सिद्धि असिद्धि प्रभावित नहीं कर सकती क्योंकि सिद्धि का अर्थ है चाह की पूर्ति। जहां चाह ही नहीं वहां सिद्धि असिद्धि का विक्षेप कहां? तब मन स्वयमेव शांत हो जाएगा, तब हम ऐसी अवस्था में पहुंच जाऐंगे, जहां हमारे आनन्द को कोई व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति भंग नहीं कर सके। यही तो योग है। इस अवस्था के बाद जब हम कर्म करेंगे तो वह कर्म उत्कृष्टतम होगा। हम उसका आनन्द ले पाऐंगे, अपनी शक्ति और क्षमताओं का (जो अब तक फलासक्ति के विक्षेप से बर्बाद हो रही थी) भरपूर उपयोग कर पाऐंगे।

इस विचार को भगवान अगले श्लोकों में समझा रहे हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।४९।।

हे धनंजय , बुद्धि योग की अपेक्षा (सकाम) कर्म बहुत ही तुच्छ है। तुम बुद्धि की शरण लो फल के लिए काम करने वाले तो कृपण होते हैं।

भगवान बार-बार कह रहे हैं कि सकाम कर्म से निष्काम कर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि फलासक्ति न होने के कारण मन अस्थिर, अशांत और चंचल नहीं होता जिसके कारण काम कुशलता पूर्वक होता है। निश्चित रूप से उसका फल बढ़िया होगा ही। सकाम कर्म भी बहुत लगन, परिश्रम से किया जा सकता है और फल की प्राप्ति तब भी होगी लेकिन वह हमें सुख-दुख के जंजालों से, जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति नहीं दिला सकता। मन की इच्छाएं जितनी अधिाक पूर्ण होगी उतनी ही नई इच्छाएं जन्म लेंगी और हम नए-नए कर्म करेंगे, उसके लिए नए-नए क्षेत्र तलाशेंगे, कभी सफलता, कभी असफलता, कभी उत्साह, कभी हताशा, इनमें ही उलझे रहेंगे। यह मन का स्वभाव ही है। मन कामनाओं का निवास है अतः भगवान मन के अनुसार नाचना बंद कर बुद्धि की शरण लेने को कहते हैं। मनमानी न कर बुद्धिमानी करने को कहते हैं।

वस्तुतः मन और बुद्धि एक ही है। दोनों ही विचारों से बने हैं लेकिन विचार जब संशयात्मक होते हैं तो उन्हें मन कहते हैं और निश्चयात्मक होते हैं तब उसे बुद्धि कहते हैं। सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि आदि मन के खेल हैं। इन विचारों से परे रह कर कर्म करना ही कर्म योग है और भगवान ने इसे बुद्धि योग का नाम ठीक ही दिया है क्योंकि इस प्रकार कर्म करते वक्त हम मन के दास नहीं बल्कि बुद्धि के मालिक होते हैं।

श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में फलासक्त लोगों को कृपण की संज्ञा दी है। कृपण वे होते हैं जिनके पास धन होता है लेकिन दिल नहीं होता। वे खर्च

नहीं कर सकते। कुछ खरीदने की इच्छा तो दूर, जरूरत भी होने पर वे अपने पाकेट से रुपया निकालते हैं तो भी उसे पलट कर वापस रख लेते हैं। इस प्रकार दुख पाते रहते हैं लेकिन साधन संपन्न होने पर भी अपने साधनों का उपयोग नहीं करते। उन्हें जीवन का आनन्द मिल ही नहीं पाता।

इसी प्रकार जो लोग केवल फल के लिए काम करने के आदी होते हैं वे भी बहुत शक्तिशाली, बुद्धिमान वगैरह हो सकते हैं पर अपने गुणों को भरपूर उपयोग नहीं कर सकते। फल तो जरूरी नहीं कि हमेशा सामने दिखाई दे ही। बहुत बार ऐसा होता कि हम निस्वार्थ भाव से किसी सहयात्री की मदद करते हैं और चल देते हैं। दस-बीस वर्ष बाद संयोग वश हमें किसी आफिस में बहुत आवश्यक काम होता है और वहां वही व्यक्ति आफिसर रहता है। वह उस उपकार को भूला नहीं, और हमें अनायास ही लाभ मिल जाता है। लेकिन जो केवल फल के लिए ही काम करते हैं उनके लिए तो ऐसे अवसर आते नहीं और संयोग वश मिलने वाले ऐसे लाभ की बात तो जाने दीजिए, सबसे बड़ी बात है कि वे काम करने के आनन्द नहीं ले पाते। बैठे-बैठे बोर हो लेंगे लेकिन कुछ करने का अवसर मिलने पर वे सोचेंगे- क्यों करें? क्या फायदा हमको? इस प्रकार उनकी क्षमताएं, कुशलताएं क्षीण होती रहती हैं, उनका उपयोग वे कर नहीं पाते।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धि (बुद्धियोग अर्थात् समता) से युक्त मानव यहां (जीवित अवस्था में) ही पाप और पुण्य दोनों का त्याग कर देता है अतः तू योग में लग जा क्योंकि योग ही कर्मों में कुशलता है।

प्रस्तुत दोहे में भगवान श्री कृष्ण योग की विस्तृत विवेचना करते हैं। पहले उन्होंने बताया कि समत्व को योग कहते हैं अब इस श्लोक में कहते हैं योग कर्मों में कुशलता है। यह वास्तव में पिछली परिभाषा से भिन्न नहीं बल्कि उसी के अनुसार योग की महिमा बताती है। इस श्लोक में प्रयुक्त 'योग' शब्द का अर्थ पिछली परिभाषा के अनुसार समता ही है और इस प्रकार इसका

अर्थ होता है – तू समता में स्थिर हो क्योंकि समता ही कर्म में कुशलता है।

भगवान द्वारा वर्णित यह बुद्धियोग हमें सिखाता है कि अपनी बुद्धि को किस प्रकार की ट्रेनिंग दें ताकि हमारा काम बढ़िया से बढ़िया हो और किसी प्रकार का तनाव, विक्षेप आदि भी न हो। प्रायः देखा जाता है कि या तो लोग सुस्त, आलसी और गैर जिम्मेदार होते हैं जिन्हें अच्छे खराब काम की परवाह नहीं होती, ऐसे लोग मनुष्य होकर भी कुछ उपलब्धियां हासिल नहीं कर पाते। दूसरी और कुछ लोग अधिक से अधिक, अच्छा से अच्छा काम करना चाहते हैं, वे महत्वकांक्षी होते हैं, अपने प्रतिस्पर्धियों से आगे बढ़ना चाहते हैं। ऐसे लोग निश्चित रूप से अधिक धन कमा लेते हैं, ऊंचे ओहदों पर पहुंच जाते हैं, लोग उनकी कुशलता का लोहा मानते हैं लेकिन क्या सचमुच वे कुशल हैं? मनःचिकित्सकों के पास मानसिक तनाव और अवसाद से ग्रस्त ऐसे लोगों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है, शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति और पारिवारिक सुख चैन की कीमत पर वे सांसारिक प्रसिद्धियां खरीदते हैं, उनका अपना मौलिक उपार्जन कुछ भी नहीं।

यह श्लोक इसी ओर हमारा ध्यान खींचता है, हमें कर्म की ऐसी कुशलता सिखलाता है कि तनाव से ग्रस्त न होना पड़े। हमें वह कला बताता है कि कर्म करके निकल भी जाएं और वासना का संचय भी न हो जो कि पुनर्जन्म का कारण है। कुशल कारीगर तो उसे ही कहते हैं जो बांस की सीढ़ी के सहारे चालीसवीं मंजिल पर अत्यंत सुन्दर काम कर भी डाले और गिरे भी नहीं। अनाड़ी तो चढ़ते वक्त ही गिर जाएगा और साधारण कारीगर उतने ऊपर चढ़कर ध्यान को काम में केन्द्रित नहीं कर पाएगा।

हम भी कर्म के ऐसे कुशल कारीगर इस समता रूपी बुद्धियोग द्वारा ही साबित हो सकते हैं। भगवान कहते हैं कि ऐसा योग युक्त व्यक्ति यहीं पाप-पुण्य का त्याग कर देता है।

किसी भी कर्म के फलस्वरूप यदि हमें मानसिक शांति मिलती है तो वह पुण्य है और विक्षेप होता है, मन के किसी कोने में धिक्कार गूंजती है तो वह पाप है। इस पाप का कारण बहुधा राग-द्वेष होता है, अपने आपसे, अपने परिवार, प्रियजनों से मोह तथा परायों से द्वेष की भावना ही हमें पाप की ओर प्रवृत्त करती है। पुण्य की ओर प्रवृत्त करने वाली भावना है – अगले

जन्म में सुख प्राप्ति की चाह। जो व्यक्ति राग द्वेष को त्याग देगा, उस जन्म में क्या इसी जन्म में सुख की चाह छोड़ देगा, उसे ही पाप पुण्य का त्यागी कहा जाएगा। द्वेष हम तभी छोड़ सकते हैं जब राग छोड़ें। सुख की चाह से हम तभी मुक्त हो सकते हैं जब दुख से न डरना सीखें। समत्व में स्थित व्यक्ति इस प्रकार जब राग-द्वेष, पाप-पुण्य और सुख-दुख की भावना से ऊपर उठकर काम करता है तो उसके सामने बस काम होता है, उसका दिमाग इधर-उधर भटकता नहीं, मन वहीं रहता है जहां हाथ, और तब काम में सुन्दरता आती है। ऐसे कलाकार की कलाकृति ही अमर होती है।

एक बार फिर ध्यान दें कि कर्मों की कुशलता द्विअर्थी है। पहला अर्थ तो यही है कि कर्म में उत्कृष्टता आती है और दूसरा अर्थ यह है कि इससे वासना का संचय नहीं होता, तनाव नहीं बढ़ता। मनुष्य का जन्म लेकर कर्म तो हमें करना ही है पर दिक्कत यहीं आती है कि एक बार कोई काम करें तो फिर दुबारा (अपने खट्टे मीठे के अनुभव के अनुसार) उसी को करने या न करने की वासना पैदा होती है जो मानव को जन्म और मृत्यु के चक्र में फंसाती है, लेकिन समत्व तो वह कला है कि काजल की कोठरी से निकल जाएं और एक दाग भी न लगे।

जन्म बंधन से मुक्त होने की बात भगवान अगले श्लोक में विस्तार से बताते हैं-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

बुद्धियोग (समत्व) से युक्त मनीषी साधक कर्मजन्य फल का त्याग करके जन्मस्वरूप बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

भगवान एक बार पुनः याद दिलाते हैं कि जन्म बन्धन से मुक्त करने की कला समत्वरूपी बुद्धियोग है और यह फल की आसक्ति को त्याग कर प्राप्त किया जाता है। समत्व योग और कर्मयोग एक दूसरे के पर्याय हैं।

कर्म तो फल में बदलेगा ही, हम चाहे या न चाहे, जानबूझ कर करें

या अनजाने में, इच्छा के साथ करें या इच्छा को त्याग कर। निष्काम भाव से खेत में बीज बोएंगे तो क्या अनाज पैदा नहीं होगा? लोगों के मन में प्रायः प्रश्न आता है कि फल की चाह के बिना कर्म हो ही कैसे सकता है। क्या अच्छी फसल अधिक चाह पर अधिक निर्भर करती है? वह तो कुशलतापूर्वक कर्म किए जाने पर निर्भर करती है और कुशलतापूर्वक कर्म तभी होगा जब हम रात दिन फल की चिंता में घुलना छोड़ दे, सिद्धि असिद्धि में सम रहना सीखें। इससे नई-नई वासनाएं संचित नहीं होगी, बस पुरानी वासनाओं का क्षय होगा और साधक जीवनमुक्त अवस्था में पहुंच जाएगा।

इस प्रकार बुद्धियोग और कर्मयोग का संयोजन करने के बाद अर्जुन को इसकी ओर प्रेरित करने के लिए इसकी महिमा और सुनाते हुए भगवान कहते हैं-

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल से तर जाएगी उसी समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा ।

मैं और मेरे की भावना, सुख को संजोए रखने और दुख से निरन्तर भागने का संघर्ष, प्रिय से राग और अप्रिय से द्वेष, ये सब मोह के विभिन्न रूप हैं जो एक दलदल के समान हैं। इनसे जितना पैर निकालने की कोशिश करते हैं उतना ही धंसते चले जाते हैं। यदि हम अपने कर्म में किंचित भी आलस्य या प्रमाद न आने दे, यदि हम सुख और दुख को इस सरकते हुए अनित्य संसार (संसरति इति संसारः) का सत्य मान कर, उन्हें अनित्य और आने जाने वाला समझते हुए शान्त बुद्धि से स्वीकार कर लें, यदि हम प्रिय और अप्रिय दोनों को अपरिहार्य मान कर सहज बुद्धि से ग्रहण कर लें तो फिर कोई भी सुनी हुई, देखी हुई या कल्पना की हुई बात हमें सहज शान्ति से विचलित नहीं कर सकती। यह कर्म और ज्ञान का सामंजस्य है जो गीता के द्वितीय अध्याय में बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३।।

सुने हुए मतभेदों से जब तुम्हारी बुद्धि निश्चल और आत्मा में अचल हो जाएगी उस काल में तुम योग को प्राप्त हो जाओगे।

दलदल दो प्रकार के होते हैं, संसारी और शास्त्रीय। अपने सुख-दुख, प्रिय अप्रिय आदि के राग द्वेष में उलझना मोहरूपी संसारी दलदल है, उससे भी भयंकर शास्त्रीय जाल है जिसमें हम धर्म अधर्म आदि के विचारों में फंसे रहते हैं। इसी ने अर्जुन को बुरी तरह उलझा रखा था। गीता में तो भगवान हर प्रकार के धर्म, अधर्म, स्वधर्म आदि का उपदेश देने के पश्चात् अंत में कहते ही हैं कि सर्वधर्मान् परित्यज मामेकं शरणं व्रज। इस श्लोक में भी परोक्ष रूप से राग-द्वेष के साथ धर्म, अधर्म का भी त्याग करने की शिक्षा है। वास्तव में न कोई धर्म का त्याग कर पत्थर की तरह बैठ सकता है न ही अधर्म से पूरी तरह बच सकता है, यहां तात्पर्य तो धर्म-अधर्म से ऊपर उठ कर अपनी बुद्धि को स्थिर करना है।

इस प्रकार स्थिर, निश्चल और आत्मनिष्ठ बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए गीता में विशेष नाम दिया गया है- स्थितप्रज्ञ। अर्जुन जो अब तक विषाद युक्त होकर मूढ़त्व और जड़त्व को प्राप्त कर चुका था, अब कुछ चैतन्य होता है। वह स्थितप्रज्ञ मनुष्य के विषय में श्री कृष्ण से और विस्तारपूर्वक जानना चाहता है। अगला श्लोक अर्जुन का प्रश्न है और उसके बाद अध्याय के अंतिम श्लोक तक श्री कृष्ण ने उसके प्रश्न का उत्तर दिया है। इसके पहले कि हम उन श्लोकों के अर्थ देखें, स्थितप्रज्ञ के विषय में कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए।

गीता के श्लोकों का अर्थ केवल शाब्दिक रूप में न ग्रहण कर उसके प्रसंग तथा श्रोता वक्ता के चरित्र के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए। भगवान श्री कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का जीवंत उदाहरण है। सुख-दुख, सिद्धि-असिद्धि, राग-द्वेष यहां तक कि धर्म-अधर्म से भी उन्होंने ऊपर उठ

कर कार्य किया है। कर्म में एक क्षण के लिए भी आसक्त न होते हुए वे जीवन भर संघर्षरत रहे। पाण्डवों के प्रति सहज प्रेम का प्रदर्शन करते हुए, अर्जुन को पितामह के प्रति युद्ध के उकसाते हुए भी वे पितामह के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखते हैं, यहां तक कि पूर्ण कौरव पक्ष से उन्हें कोई द्वेष नहीं था। परीक्षित के जीवन की रक्षा वे इसी संकल्प के साथ करते हैं कि यदि महाभारत के युद्ध में मेरा किसी के साथ द्वेष न रहा हो तो यह बालक जीवित हो जाए।

वे पुरुषार्थ के साथ नियति को भी सहज भाव से स्वीकारते हैं और नियति को अपरिहार्य मानते हुए भी पुरुषार्थ में कोई कमी नहीं रखते, यही सच्चा कर्मयोग है। महाभारत युद्ध की क्या परिणति होगी यह क्या वे जानते नहीं थे? फिर भी युद्ध टालने की उन्होंने भरसक कोशिश की, स्वयं दूत बनकर दुर्योधन के पास शांति प्रस्ताव लेकर गए और उसमें असफल होते ही युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गए, उसके बाद उस युद्ध से दूर भागने की अर्जुन की पेशकश को वे बुरी तरह निरस्त कर देते हैं। यही नियति और पुरुषार्थ का उच्चतम सामंजस्य है।

व्यक्तिगत प्रिय अप्रिय का जहां तक प्रश्न है, बहिरंग दृष्टि से श्रीकृष्ण से अधिक अनुरागी दूसरा कोई नहीं लगता। गोपियों में उनका प्रेम अटूट था किन्तु एक बार मथुरा चले जाने के बाद वे वहीं अपने कर्तव्य में रम गए। गोपियों को उन्होंने सदा याद अवश्य किया किन्तु वह प्रेम उनके कार्य में एक क्षण के लिए भी बाधक नहीं बना और अनासक्ति की पराकाष्ठा तो उन्होंने अपनी लीला संवरण के समय दिखाई है। अपने ही पुत्रों-पौत्रों को जब पृथ्वी का भार समझ लिया तो उनकी हत्या करने से भी नहीं चूके और इसके लिए उन्होंने किसी छद्म या ऊपर से गौरवशाली दिखने वाली किसी व्यवस्था का भी सहारा नहीं लिया। यदुवंशियों का अंत एक ऐसा कार्य था जिसमें सत्य अपने नग्नतम स्वरूप में उजागर हुआ है।

महाभारत के युद्ध का काल अन्धकार का काल था जिसमें अच्छाई-बुराई त्रेतायुग के राम-रावण की भांति अलग-अलग नहीं थी, पितामह जैसे व्यक्ति भी अन्ततः धर्म के नाम पर अधर्म का साथ दे देते हैं, अक्रूर जैसा श्रीकृष्ण का परम भक्त भी सत्यभाभा के प्रति आसक्ति रखता है और स्यमंतक मणि लेकर भाग जाने में संकोच नहीं करता। हर व्यक्ति धर्म के विषय

में अपनी-अपनी व्यक्तिगत धारणा बनाए हुए जी रहा है। ऐसे में धर्म के मूर्तिमान स्वरूप धर्म-अधर्म से ऊपर उठने की शिक्षा देते हैं तो वह उचित ही है। पितामह ने केवल अपनी बाल्यावस्था की प्रतिज्ञा पालन को धर्म माना, बाकी सबसे आंखें मूंद लीं। इस प्रतिज्ञा का फल क्या हो रहा है यह समझते हुए भी अपने स्वघोषित धर्म से उपर उठने को तैयार नहीं थे। कर्ण ने केवल दुर्योधन के प्रति कृतज्ञता को ही धर्म माना। द्रोणाचार्य दुर्योधन के खाए अन्न के वशीभूत हो गए।

ऐसे में श्रीकृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञाओं को तोड़ा, युद्ध के नियमों का उल्लंघन कर कर्ण को मरवाया, छल का सहारा लेकर द्रोणाचार्य को मरवाया और शिखण्डी की आड़ में पितामह को शरशय्या दिलाई। इस प्रकार वे धर्म के प्रति भी अनासक्ति दिखाते हैं और साथ ही यह भी समझाते हैं कि धर्म पालन में दृष्टि उद्देश्य पर रहनी चाहिए न कि अपने व्यक्तिगत गौरव, मान आदि पर।

ध्यान देने की बात है कि रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने संतों के विषय में बताया है जो कल्याण के लिए कार्य करते हैं, अपने दुख से तो नहीं पर दूसरे के दुख से दुखी होते हैं, ऐसे संत समाज को दिशा दिखाते हैं। लेकिन गीता की रचना जिस युग में की गई उसमें बुराई, अनाचार, अधर्म की जड़ें इतनी गहरी हैं कि अब समूल विनाश अवश्यम्भावी हो गया है और भगवान स्वयं काल रूप धारण कर लोक क्षय के लिए प्रवृत्त हो गए हैं। ऐसे में समाज को सुधारने का काम करना तो ऐसा है जैसे भीषण तूफान में कोई एकमात्र दिया लेकर दौड़ पड़े। ऐसे समय तो दिए के मालिक का सर्वोच्च कर्तव्य उस दिये की लौ को जलता रखना है ताकि तूफान के बाद उसका उपयोग हो सके। श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मनिष्ठ बनने की प्रेरणा देते हैं। चारों और फैली अराजकता (जो कि काल की नियति है) के बीच स्वयं उद्विग्न न हो, दूसरों को उद्विग्न न करे। जो व्यक्तिगत हानि लाभ, और कामनाओं से ऊपर उठकर कार्य कर सके वही महान है। इसीलिए गीता में पर लोक कल्याण के बदले आत्मोद्धार का स्वर मुखर हुआ है। गीता हमें अपने आप को देखने-समझने और बदलने की प्रेरणा देती है। पतनोन्मुख समाज जैसा कि आधुनिक युग में हो गया है, में यही एक मात्र उपाय है। दूसरों को सुधारने

और उसके दोषों को देखने की कला तो सबको मालूम है पर उससे भला नहीं बुरा ही होता है। 'स्वयं को बदलो' गीता का यह उद्घोष आज की भी पुकार है।

एक बात और, अर्जुन ने युद्ध आरम्भ के पहले उसके औचित्य पर जो प्रश्न उठाए थे वे निराधार नहीं थे लेकिन श्रीकृष्ण उसे टाल जाते हैं और अर्जुन को अपना दृष्टिकोण बदलने की सलाह देते हैं। अर्जुन ने जिस-जिस बात की कल्पना की थी वह सब सच हुआ। भगवान जानते थे, वे नियति को भी जानते थे और उसकी अपरिहार्यता को भी। पुरुषार्थ को रंचमात्र भी न त्यागते हुए नियति को स्वीकार करना ही गीता की शिक्षा है इसलिए वे अर्जुन को अपना मोह, दुराग्रह और अन्त में धर्म तक को त्यागने के लिए कहते हैं। अर्जुन को लग रहा था कि क्षत्रिय होने के नाते उसका धर्म प्रजा की रक्षा करना है, समाज का उत्थान करना हे लेकिन श्रीकृष्ण बताते हैं कि इन सबके लिए प्रयत्न करो, किन्तु अनासक्त होकर, नियति की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए फल के प्रति अपना आग्रह त्याग कर बुद्धि को आत्मनिष्ठ रखते हुए एक क्षण के लिए भी विचलित न होने देना ही स्थितप्रज्ञता है। ऐसा व्यक्ति ही हानि-लाभ, जय-पराजय और यश-अपयश में सम रह सकता है, गीता के अनुसार वही योगी है, उसे समाधि लगाने की जरूरत नहीं, वह नित्य समाधिस्थ है।

स्थितप्रज्ञ की प्रस्तावना के बाद देखें कि अर्जुन ने क्या प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४।।

हे केशव! समाधि में स्थित स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं? वह स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, और कैसे चलता है?

भगवान काफी समय से सम बुद्धि के साथ काम करने की प्रेरणा

दे रहे हैं, समत्व के साथ-साथ कर्मकुशलता को योग बता रहे हैं और सम बुद्धिवाले व्यक्ति को योगी। अर्जुन सहज जिज्ञासु प्रकृति का स्वामी था, उसने तत्कालीन परम्परा के अनुसार वेद आदि की शिक्षा भी पाई थी और समाधिस्थ होने या मुनि, योगी आदि शब्दों से उसके दिमाग में हिमालय में तपोरत ऋषियों का चित्र उभरता था जो संसार से सर्वथा उदासीन हैं, अपने नित्य कर्मों को छोड़ शेष कर्मों का भी त्याग कर चुके हैं, जिनके लिए ब्रह्म ही विचारणीय है, और कुछ भी करना नहीं है, कहीं जाना आना नहीं है। पर यहां भगवान योगी के साथ-साथ कर्म कुशलता आदि-आदि शब्दों को भी जोड़ रहे हैं। यह सर्वथा नई बात थी उसके लिए। अतः उसकी जिज्ञासा जाग उठी, वह ध्यान से उनकी बातें सुनने लगा और उसका जड़त्व भंग हुआ। किन्तु इतना सुन लेने पर भी उसके दिमाग में कोई ठोस चित्र उभर नहीं रहा। वह जानना चाहता है कि संसार की भीड़भाड़ में भी योगी कैसे रह सकता है, उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए? वह अपनी जिज्ञासा अत्यन्त बचकाने ढंग से इस श्लोक में प्रकट कर रहा है-''स्थितप्रज्ञ के लक्षण क्या हैं, वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है।'' कोमा से उठे हुए व्यक्ति से और बेहतर अभिव्यक्ति की उम्मीद भी कैसे की जा सकती है, उसकी जबान लड़खड़ाएगी ही, भाव अस्पष्ट होंगे ही।

किन्तु भगवान कृष्ण प्रसन्न हो उठते हैं, कमसे कम उनका सखा जागा तो। वे अर्जुन के बचकाने शब्द पर ध्यान नहीं देते, कृपालु गुरु की भांति वे समझ जाते हैं कि शिष्य के मन में क्या है और अगले अट्ठारह श्लोकों में विस्तार पूर्वक उसका उत्तर देते हैं।

अर्जुन ने प्रश्न किया कि वह कैसे बोलता है, कैसे चलता है, कैसे बैठता है। यह तो साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी जान सकता है कि हिमालय में तपोनिरत सन्यासी भी कोई अलग ढंग से बैठेगा नहीं, सिर नीचे और पैर ऊपर करके तो चलेगा नहीं। अभिप्राय यह है कि उसकी बोलचाल, उठ-बैठ आदि के पीछे उसकी भावना, उसकी मंशा क्या रहती है इसलिए भगवान के उत्तर भी क्रिया प्रधान न होकर भाव प्रधान है।

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

हे पार्थ जब साधक सम्पूर्ण मनोगत कामनाओं का त्याग कर देता है और अपने आप से अपने आप में ही संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

मन की कामनाओं का कारण है वासना। अपनी वासनाओं के कारण हमारे मन में तरह-तरह की इच्छाएं जागती है, शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सुख की कामनाओं की तुष्टि के लिए हम संसार में इधर-उधर भटकते फिरते हैं, हमारे सारे कर्म सुख प्राप्ति और दुख निवृत्ति के लिए होते हैं लेकिन स्थितप्रज्ञ वह है जो समस्त कामनाओं का त्यागकर चुका है। उसने संसार को त्यागा नहीं, संसार की कामना त्याग दी। और संसार को नहीं त्यागे, तब तक कर्म को भी कैसे त्यागा जा सकता है। अतः वह निष्कामी पुरुष कर्म करता तो है, किन्तु अपने और समष्टि के प्रारब्ध के अनुसार। वह जिस परिस्थिति में है उसमें जो कुछ भी अच्छा से अच्छा किया जा सकता है वह अवश्य करता है और उसका उद्देश्य व्यक्तिगत हानि लाभ भी नहीं रहता अतः नई वासनाएं जन्म नहीं लेती। इस प्रकार वह जीवन्मुक्त है।

लेकिन संसार की सारी कामनाएं खत्म हो जाएं, यह वास्तव में संभव है क्या? बात कुछ अव्यवहारिक जान पड़ती है न। इसकी व्यवहारिकता का प्रतिपादन भगवान ने अगली पंक्ति में किया है- आत्मन्येवात्मना तुष्टः। स्थितप्रज्ञ अपने आप में संतुष्ट रहता है। एक बच्चा कभी किसी वस्तु के लिए जिद कर रहा है कभी किसी वस्तु के लिए। उसे भूख भी लगी है, उसे नई ड्रेस भी चाहिए, उसे घूमने भी जाना है, उसे अपने दोस्त की जैसी बन्दूक भी चाहिए। इतने में उसके चाचा आते हैं, उसके लिए उपहार में ट्राइसिकल लेकर। बस अगले कुछ घंटों के लिए वह बच्चा साइकिल से ऐसा संतुष्ट है कि उसे और कुछ भी नहीं चाहिये। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ आत्मा में रमा हुआ है, उसे उस सुख की पहचान हो गई है वह अब ऐसा आत्मसंतुष्ट है कि जगत की किसी

वस्तु की कामना उसके मन में आती ही नहीं।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए हर श्लोक में भगवान पहले तो संसार की वस्तुओं के प्रति उसका रुख बतलाते है और फिर परमात्मा में उसकी स्थिति बताते हैं। इस श्लोक में भी भगवान ने पहली पंक्ति में बताया कि उसे संसार की वस्तुओं की चाह नहीं है, दूसरी में बताया कि वह आत्म संतुष्ट है। दोनों ही स्थितियां एक दूसरे की पूरक हैं। संसार की कामनाएं खत्म नहीं होंगी तो आत्मा में रमण नहीं हो सकता, आत्म-संतोष के बिना संसार की कामनाएं खत्म नहीं हो सकती । इस श्लोक में भगवान ने स्थितप्रज्ञ के आंतरिक लक्षण बताएं हैं जो स्वयं ही समझे जा सकते हैं और आगे के तीन श्लोकों में वे बाहरी लक्षण बताते हैं जो दूसरों को भी दिखाई पड़ते हैं, इस प्रकार उन्होंने अर्जुन के उन प्रश्नों का उत्तर दिया है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

दुख से जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुख के लिए जिसके मन में स्पृहा नहीं होती, जो राग, भय और क्रोध से सर्वथा रहित हो गया है वह मननशील मनुष्य स्थिर बुद्धि कहा जाता है।

सुखों और दुखों की धूप छांव का नाम ही संसार है। हम अभी रात दिन अपने और दूसरों के जीवन में देखते हैं कि इनका आना जाना निरंतर बना रहता है, न सुख ही स्थायी रहता है और न ही दुख। कब किस रूप में सुख या दुख आएगा यह तो हम चाहकर भी जान नहीं सकते किन्तु सावधानी पूर्वक मनन करें तो यह अवश्य पता चलता है कि दुख के बाद सुख और सुख के बाद दुख आएगा अवश्य। वस्तुतः दोनों की सत्ता एक दूसरे के कारण ही है, यदि दुख न मिले तो हमें सुख सुख जैसा मालूम ही न दे। जो हमेशा एयरकंडीशन में रहता है, जिसे पता ही नहीं कि बाहर अभी कितनी गर्मी पड़ रही है उसे हर वक्त अनुभव थोड़े ही होगा कि मैं कितना सुखी हूं। किंतु धूप में तप कर आया हुआ व्यक्ति एयरकंडीशन कमरे में घुसेगा तो अत्यंत

सुख का अनुभव करेगा। सुख का हमें अनुभव हो इसके लिए दुख की आगे या पीछे उपस्थिति आवश्यक है। जिस प्रकार एक पहाड़ी के साथ दोनों ओर नीची जमीन होनी चाहिए उस प्रकार प्रत्येक सुख के साथ दो दुख जरूर लगे रहते हैं, एक आगे एक पीछे।

ऐसा मनन करने के बाद वह मननशील व्यक्ति हर दुख के साथ सुख के प्रति आशावान और हर सुख के साथ दुख के लिए तैयार रहेगा और धीरे-धीरे वह इस स्थिति में पहुंच जाएगा कि दुख में बिलखेगा नहीं और सुख में इतराएगा नहीं, नाचेगा नहीं। ऐसी बात नहीं कि उसे सुख या दुख का बोध नहीं होगा, स्थितप्रज्ञ चेतन जीव है, जड़ वस्तु नहीं। भगवान तो यह कहते है कि दुखों के अनुभव में वह उद्विग्न नहीं होगा। सुख मिलने पर यह नहीं सोचेगा कि यह सुख तो बस जाए ही नही, इसे मैं किसी प्रकार पकड़े रहूं। सुख दुख की आती जाती स्थिति का मनन उसे संयत बनाए रखता है। जैसे बहुत नींद आ रही हो तो व्यक्ति चाहेगा कि दिन उगे ही नहीं, मैं सोता ही रहूं पर साथ ही वह यह भी जानता है कि उसके चाहने से सूर्य नारायण रुकने वाले नही हैं। इसलिए दिन उगने पर उसे उद्वेग नहीं होगा, रात के लिए स्पृहा नहीं होगी।

समत्व की ऐसी बुद्धि के साथ एक और बात जुड़ी हुई है- राग, भय, क्रोध का न होना। भगवान ने तीन बातें गिनाई है जो एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं। वस्तुतः भय और क्रोध क्रियात्मक रूप से भिन्न है किन्तु उनका मूल कारण राग ही है।

कोई वस्तु या व्यक्ति बहुत प्रिय लगता है तो उस भावना को हम राग कहते हैं। लेकिन राग के साथ-साथ तुरंत उसकी सुरक्षा के लिए हमारे मन में भय घर कर लेता है। वह वस्तु, वह सुख हमसे छिन न जाय, मेरे प्रिय व्यक्ति का कोई अनिष्ट न हो जाय यह भय मन में सतत् बना रहता है और यदि कोई अन्य व्यक्ति, वस्तु या स्थिति हमारे मार्ग में बाधक बनती है तो उसके प्रति क्रोध आता है। कभी तो क्रोध स्वयं उसी पर आता है जिसके लिए हमारे मन में राग है और जिसे सुखी देखना चाहते हैं। पति यदि किसी रात बहुत देर से लौटे तो पत्नी अत्यन्त भयभीत होती है, अनिष्ट की आशंका तरह-तरह की कल्पनाओं को जन्म देती है। एक्सीडेंट हो गया होगा, किसी ने लूटकर जख्मी कर दिया होगा आदि भय से परेशान पत्नी जब घंटी बजने

पर पति को मुस्कुराते हुए दरवाजे पर खड़ा पाती है तो अभी तक उसकी सुरक्षा के लिए देवी-देवताओं की मनौतियां मनानेवाली पत्नी क्रोध से बरस पड़ती है- 'इतनी देर से कहां थे? फोन क्यों नहीं किया?' क्या इस क्रोध का कारण यह है कि वह उसे सुरक्षित देखकर जल भुन जाती है?

लेकिन कोई व्यक्ति अपने पुत्र की चिंता से ग्रस्त होकर हमारे घर उसे खोजने आता है तो हम मात्र सहानुभूति जाताते हैं और कह देते हैं - 'आजकल के लड़कों के साथ बहुत मुश्किल है।' हमें न भय लगता है न क्रोध आता है- क्योंकि उस लड़के के प्रति हमें 'राग' नहीं है।

इस प्रकार क्रोध और भय का कारण राग है और राग का कारण कामना है। हमें जो चाहिए, जो अच्छा लगता है उसी के प्रति राग होता है। लेकिन पिछले ही श्लोक में भगवान कह चुके हैं- स्थितप्रज्ञ कामनाओं को छोड़ चुका है। फिर कैसा राग, कैसा भय और कैसा क्रोध!

इस प्रकार भगवान सारे लक्षण बताते हुए कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति ही मुनि है (मननशील है) और उसकी बुद्धि स्थिर है, वह विचलित नहीं होता और समता रूपी योग में स्थित रहता है। सुख-दुख से परे और निर्लिप्त निर्विकार होने की बात गीता में कई स्थानों पर कही गई है यह पुनरुक्ति मात्र नहीं है, हर जगह अलग-अलग संदर्भों में इसका उपयोग हुआ है। केवल द्वितीय अध्याय में ही भगवान कह चुके हैं- **यं हि न व्यथयन्येते पुरुषं पुरुषर्षभ, सम दुख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।** इस समय वे आत्मा की नित्यता और देह की मरणधर्मिता का उपदेश दे रहे थे।

फिर उन्होंने कहा- **सुखदुखे समे कृत्वा लाभा लाभौ जया जयौ,** इस समय वे अर्जुन को युद्ध के कर्म में प्रवृत्त होने का आह्वान कर रहे थे।

और अब परम योगी की अवस्था बताते हुए वे फिर कहते हैं - **दुखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।** इसके बाद भक्त की अवस्था में फिर कहेंगे- **शीतोष्ण सुख दुखेषु समः** या **शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।**

वास्तव में सुख-दुख में निर्विकार रहना इस श्लोक में उच्चतम अवस्था का लक्षण बताया गया है जो कि साधक का लक्ष्य होगा लेकिन इस अवस्था के प्राप्त करने के पीछे ज्ञानी, कर्मयोगी और भक्त का सोचने का तरीका

अलग-अलग है अत: हर संदर्भ में भगवान इसका उपयोग करते हैं।

ज्ञानी मानता है कि सुख-दुख प्रकृति के तीन गुणों सत्व, रजस, तमस के कारण हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और एक विशेष गुण अलग से रह नहीं सकता, इसलिए संसार की हर वस्तु, हर भोग, हर विषय, हर विचार सुख-दुख से संयुक्त है किन्तु वह स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप है उसका सत्य स्वरूप देह नहीं आत्मा है जो इन सबसे अछूती है। ऐसा विवेक उसे सुख-दुख में लिप्त नहीं होने देता।

कर्मयोगी मानता है कि उसका अधिकार कर्म मात्र में है, फल तो ईश्वर के विधान से निश्चित होता है और उसे अपने प्रारब्ध का फल भोगना ही होगा, इस प्रकार सुख-दुख उसे विचलित नहीं कर पाते।

भक्त की दृष्टि बिल्कुल अलग है। वह समझता है कि वह तो मालिक के हाथ की कठपुतली है, उसे तो हर स्थिति को भगवान का प्रसाद मानकर ग्रहण करना है सुख मिला तो प्रभु की कृपा है ही, दुख भी प्रभु तभी देते हैं जब उनकी विशेष कृपा होती है और वे चाहते हैं कि उसका ध्यान संसार से हट कर अधिक से अधिक उनमें लगे।

सुख-दुख तो प्रभाव है और उनका कारण है मन के अनुकूल या प्रतिकूल अर्थात् शुभ-अशुभ परिस्थिति। प्रभाव को निरस्त करना है तो कारण पर चोट करनी होगी। अत: स्थितप्रज्ञ के व्यवहारिक लक्षण बताते हुए भगवान कहते हैं-

य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

जो सर्वत्र आसक्ति शून्य है, शुभ-अशुभ जो कुछ भी मिले उससे न हर्षित होता है न द्वेष करता है उसका ज्ञान प्रतिष्ठित है अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ है।

हर व्यक्ति के मन में संस्कारगत वासनाएं होती हैं। जब परिस्थिति, व्यक्ति, वस्तु हमें ऐसी मिलती है जो हमारी वासना के अनुकूल हो तो उसे

हम शुभ कहते हैं और परिस्थिति का अभिनन्दन करते हैं, वासना के प्रतिकूल वस्तु या व्यक्ति या परिस्थिति हमें अशुभ जान पड़ती है, उससे हम द्वेष करते हैं। यह शुभ का अभिनन्दन और अशुभ का द्वेष ही सुख-दुख का कारण है। यदि हम शुभ अशुभ चक्कर मिटा दे तो सुख-दुख भी व्याप्त नहीं होगा। स्थितप्रज्ञ के हृदय में कोई वासना होती ही नहीं अत: अनुकूल-प्रतिकूल या शुभ-अशुभ होने का प्रश्न ही नहीं उठता, न ही उसके प्रति हर्ष का द्वेष का।

जैसे किसी के पुत्र का विवाह निश्चित हुआ है। पुत्र विवाह की कामना या वासना माता-पिता के हृदय में होती है। विवाह निश्चित होना उन्हें अत्यन्त शुभ मालूम होता है और वे खूब खुशियां मनाते हैं धूमधाम करते हैं, शुभ घड़ी का इन्तजार करते हैं। अब ऐसे में किसी कारण से विवाह में विघ्न पड़ जाए, सगाई टूट जाए तो वह बहुत अशुभ जान पड़ेगा और और वे अत्यन्त दुखी होंगे। दुख की मात्रा उसी अनुपात में तीव्र होगी जितना वे हर्षित हुए थे। सपनों के जितने बड़े किले हम बनाएंगे, उनके ढहने का दुख उतना ही अधिक होगा। यदि सगाई के समय ही उन्होंने इसे अपना कर्तव्य मात्र माना होता, अभिनंदन के स्थान पर उनकी भावना अपने प्रारब्ध भोग की या पुत्र के प्रति कर्तव्य निर्वाह के आत्म संतोष की होती तो सगाई टूट जाने पर भी वे इतने अधिक दुखी और विचलित नहीं होते।

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के मानस पटल पर स्थितप्रज्ञ का शब्द चित्र अंकित कर रहे हैं। चित्रांकन सुन्दर और त्रुटिरहित हो इसके लिए आवश्यक है कि कैनवस हिले नहीं, स्थिर रहे। यहां कैनवस मन है, यदि भगवान की बात सुनते समय अर्जुन के मन में कोई शंका आ गई तो वह अपने प्रश्न की उलझन में खो जाएगा और भगवान के शब्दों को ग्रहण नहीं कर पाएगा। अर्थात् यहां चित्रकार को चित्र एक अस्थिर कैनवस पर अंकित करना है अत: उसे हमेशा कैनवस को पकड़े भी रहना होगा । अर्जुन के मन में किसी शंका के कारण विक्षेप हो इसके पहले ही भगवान को उसका समाधान कर देना है ताकि वह पूरे मन से उनकी बातों को ग्रहण कर सके और समझ सके कि स्थितप्रज्ञ मानव कैसा होता है।

यहां जब श्रीकृष्ण बताते हैं कि स्थितप्रज्ञ संसार में व्यवहार करते हुए अच्छा बुरा मिले उसे समान रूप से ग्रहण करता है तो अर्जुन के मन

में शंका उठ सकती थी- क्या यह सचमुच संभव है? जिसे हिमालय की कंदराओं में न रहकर बाजार के बीच रहना है वह कैसे अविचलित रह सकता है? उसके मन में यह शंका उठे, वह अपनी शंका को समझ पाए उसके पहले ही भगवान निराकरण करते हैं- चित्रांकन छोड़ कैनवस को संभालने में श्रीकृष्ण को चार श्लोक लगाने पड़ते है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर सिकोड़ लेता है वैसे ही जो अपनी समस्त इंद्रियों को इन्द्रिय-विषय से खींचकर भीतर समेट लेता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

समुद्र के किनारे कछुआ धीमे-धीमे किंतु शान से चलता रहता है, कोई कंकर भी कहीं से आकर लगा, खतरे की जरा भी आहट हुई नहीं कि वह अपनी समस्त इन्द्रियों को तुरंत खोल के भीतर सिकोड़ कर चुपचाप बैठा रहता है, सर निकाल कर झांकता तक नहीं, न ही यह सोचता है कि यह तो खतरे का आभास मात्र है, देखूं आगे क्या होता है।

इसी प्रकार साधक भी संसार में समान्य रूप से वर्तन करे लेकिन विषयों में बह जाने का जरा भी खटका हो, ऐसा लगे कि ये हमारे मन को हरने वाले हैं तो उनसे कछुए की भांति अपनी इन्द्रियों को एकदम सिकोड़ ले, विषयों में उन्मुक्त विहार न करे और जहां विषयों का भय न हो वहीं उन्मुक्त रमण करे, ऐसा करने पर ही वह विषयों के आकर्षण से अछूता रह सकता है, मन के उद्वेगों से बच सकता है और अपनी बुद्धि को स्थिर रख सकता है।

इस श्लोक से अर्जुन को यह समझ में आया कि इन्द्रियों का निग्रह स्थितप्रज्ञता को प्राप्त करने का साधन है लेकिन उसके मन में अब भी यह शंका हो सकती है कि हिमालय में रहने वाले मुनि के सामने तो विषय भोग यदा-कदा ही उपस्थित होंगे और वह कछुए की भांति इन्द्रियों को सिकोड़

कर बैठ जाएगा और विषयों का भय दूर होते ही पुनः समान्य हो जाएगा लेकिन भगवान तो संसार के बीच रहने वाले स्थितप्रज्ञ के विषय में बात कर रहे हैं। यहां तो चारों ओर विषय भोग बिखरे पड़े हैं, एक से आंख हटाओ तो दूसरे पर चली जाती है, फिर वह कब तक इन्द्रियों को सिकोड़ता रहेगा, यदि यही करता रहेगा तो सामान्य व्यवहार कर ही नहीं पाएगा। वह स्वयं इस शंका को समझे उसके पहले ही भगवान इसकी व्याख्या और कर देते हैं ताकि अर्जुन को निग्रह संबंधी सभी आयामों का ज्ञान हो जाए।

विषया विनिवर्तन्ते निराहास्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

निराहार रहने वाले देही के लिए विषय तो विनिवर्त हो जाते हैं पर उनके प्रति रस रह जाता है किन्तु परमतत्व का साक्षात्कार कर लेने पर उसका यह रस भी निवर्त हो जाता है।

इस श्लोक में बताया गया है कि मात्र इन्द्रिय निग्रह से योग नहीं सधता। विषयों से इन्द्रियों को विमुख करने की साधना को प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार से समाधि नहीं मिलती। इसके बीच धारणा और ध्यान ये दो सीढ़ियां और हैं जिनका उल्लेख इकसठवें श्लोक में और विवेचन छठे अध्याय में ध्यान योग के नाम से होगा।

भगवान कहते हैं कि इन्द्रियों का दमन तो फिर भी इतना मुश्किल नहीं है क्योंकि एक बार यदि अपने द्वारा विषय भोग न करने का निश्चय कर लिया तो विषय अपने आप ही उससे दूर हटने लगते हैं। जैसे सिगरेट पीने वाले को डाक्टर कह दे कि जीना है तो सिगरेट छोड़ दो वर्ना कफन का आर्डर अभी ही दे दो तो, वह सिगरेट छोड़ने का निश्चय करेगा, अपने पास की सब पैकेटों को फेंक देगा, कोई मित्र सिगरेट पेश भी करेगा तो वह कहेगा- 'नहीं यार, मैंने पीना छोड़ दिया है।' एक आध बार शायद कोई आग्रह भी करे 'अरे लो न, कुछ नहीं होगा', पर दो चार बार ठुकराने के बाद यह स्थिति अपने आप हो जाएगी कि मित्र मंडली में सबको एक-एक कर देने वाला दोस्त उस व्यक्ति तक पहुंच कर बिना रुके आगे बढ़ जाएगा।

इस प्रकार सिगरेट तो उससे विनिवर्त हो गई लेकिन इतने मात्र से क्या स्थाई समाधान हो सकता है? उसके मन में सिगरेट के प्रति आसक्ति, खिंचाव तो बना ही रह सकता है। यह रस उसे कभी भी किसी कमजोर क्षण में वापस नीचे खींच लेगा। कभी किसी पार्टी में बहुत बढ़िया ब्रांड की सिगरेट पी ले तो निश्चित मानिए कि अगले दिन सुबह-सुबह पान की दुकान पर उसके दर्शन होंगे। अतः अधिक आवश्यकता तो इस 'रस' को सुखाने की है।

भगवान ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण में सबसे पहले ही कहा था- 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्,' मन के ये सारे काम, विषयों का यह रस कैसे सूखे इसका उपाय इस श्लोक के अंतिम भाग में दिया है- परं दृष्ट्वा निवर्तते- जिसकी नजर परम तत्व की ओर मुड़ गई है उसके लिए संसार के सारे आकर्षण खत्म हो जाते हैं। भगवत् रस का स्वाद विषय रस को बिलकुल फीका कर देता है। इस प्रकार भगवान केवल लक्ष्य ही नहीं चित्रित कर रहे, उसकी व्यवहारिकता भी बता रहे हैं और साथ-साथ मार्गदर्शन भी कर रहे हैं।

भगवान ने योग प्राप्ति के लिए इन्द्रियों और मन के निग्रह की बात कही तो, पर इस बात पर कुछ और प्रकाश, कुछ अधिक जोर डालने की आवश्यकता है इसलिए वे कहते हैं-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

हे कौन्तेय, यत्नशील बुद्धिमान पुरुष के मन को भी मथ देने वाली (बलवान) इन्द्रियां उसे बलपूर्वक विषयों में खींच लेती हैं।

सफर में जाने वाले को यूं तो सभी को उनके शुभेच्छु सलाह देते हैं- सफर में जरा सामान का अच्छी तरह ध्यान रखना- नगदी वगैरह पाकेट में संभाल कर रखना लेकिन सफर में यदि चंबल के बीहड़ों से गुजरना है तो विशेष रूप से कहना पड़ता है- देखो बहुत अधिक सावधानी रखने की

जरूरत है चंबल के डाकू बलपूर्वक सब लूट लेते हैं, कोई बुद्धिमानी और होशियारी काम नहीं आती।

भगवान बताते हैं ये इन्द्रियां चंबल के डाकुओं के समान बलवान है जो चोरी छुपे या ठग कर नहीं, बलपूर्वक मन को ले जाती है और मन भी केवल साधारण पुरुष का नहीं, ऐसे बुद्धिमान का भी जो यत्नपूर्वक साधना भी कर रहा हो।

इस प्रकार वे मन के निग्रह पर विशेष जोर दे रहे हैं। साधक जब बहुत दिनों से साधना करता रहे और वह कुछ निग्रह की उपलब्धियां भी हासिल कर लें तो बहुत बार ऐसे लोग अत्यधिक आत्मविश्वास के कारण साधना में कुछ ढील छोड़ देते हैं, उन्हें लगता है कि अब तो मेरे मन में विषयों के प्रति आकर्षण तो रहा नहीं, फिर कभी इन्द्रियां विषयों में विचरण कर भी ले तो क्या हर्ज है। असली बात तो मन के आकर्षण को खत्म करना है। अब फिल्मों में मेरा मन आकर्षित होता ही नहीं तो टीवी पर फिल्मी गानों का कार्यक्रम चलता है तो वहां बैठ कर देख लिए तो क्या होगा। भगवान कहते हैं ऐसे साधक को पता ही न चलेगा कब उसकी साधना मटियामेट हो जाएगी।

इन्द्रियों का तो कार्य ही है विषय भोग, विषयों के प्रति उनका आकर्षण स्वाभाविक है लेकिन यह आकर्षण बहुत शीघ्र ही आंधी के समान वेगवान हो जाता है। आप मन को पकड़ भी नहीं पाइयेगा और इन्द्रियां उसे उड़ा ले जायेंगी। और ऐसा किसी साधारण पुरुष मात्र के साथ नहीं होता, भगवान तो ऐसे व्यक्ति की बात कर रहे हैं जो बुद्धिमान भी हैं, प्रयत्न भी कर रहा है। ये इन्द्रियां कोई साधारण घोड़े नहीं हैं जो आसानी से वश में आ जाएं, इनकी लगाम तो हर वक्त सजग हो कर कसे रखनी पड़ती है।

इन दो श्लोकों में पहले तो भगवान ने बताया कि केवल इन्द्रियों का निग्रह काम नहीं देता, मन की आसक्ति यदि पूरी तरह न जाये तो कब का दबा जमा विकार उभर कर सब नष्ट कर देता है और फिर बताया कि केवल मन के निग्रह से नहीं होगा, इन्द्रियां यदि स्वच्छन्द छोड़ दी जाएं तो हम मन के निग्रह में सफल हो ही नहीं सकते। यानि दोनों का निग्रह साथ-साथ चले, लेकिन कैसे? अगला श्लोक इसका व्यवाहरिक उपाय बताता है, यानी भगवान लक्ष्य भी प्रस्तुत कर रहे हैं और साथ-साथ लक्ष्य प्राप्ति का साधन भी बता

रहे हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

अतएव उन सबको संयमित करके युक्त होकर मेरे परायण होकर बैठे, जिसकी इन्द्रियां वश में होती है उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।

यह श्लोक एक अत्यन्त ही प्रभावशाली और कुशल उपाय प्रस्तुत करता है। इन्द्रियों को संयमित करना, मन के रस को सुखाना कोई साधारण कार्य नहीं। हम क्या करेंगे? यही न कि अच्छे कपड़े पहनना, सजना, घूमना-फिरना, सिनेमा, टीवी देखना, मनोरंजन करना बंद कर दें ताकि इन्द्रियों को निराहार रखा जा सके और इस पर भी कभी मन चले तो बिलकुल सजग रहें, उसकी बातों में आकर 'थोड़ी देर में क्या हर्ज है' के चक्कर में इन्द्रियों को विषय भोग न करने दे। सब जानते हैं कि इस प्रकार मन और इन्द्रियों का दमन होता है और दमन से कभी फायदा नहीं हो सकता, नुकसान ही होगा, कोई भी मनोवैज्ञानिक इसका सलाह नहीं देगा और पाश्चात्य सभ्यता तो इसका इतना अधिक विरोध करती है कि वहां इन्द्रियों और मन को पूरी छूट दी हुई है भोगों में जैसा चाहे विचरण करे- इसका नतीजा भी सामने ही है। गीता का जीवन दर्शन दमन में कदापि विश्वास नहीं करता, भगवान के निग्रह का बड़ा अच्छा फर्मूला है।

हमारी इन्द्रियां छिद्र रूप में है, आंख, कान, नाक आदि किसी को हम बंद नहीं रख सकते। आंखें खुली रही तो कुछ न कुछ तो देखेंगी ही, जो देखेंगी उसके प्रति मन भी कुछ न कुछ अच्छा बुरा सोचेगा ही, और सोचेगा तो आसक्ति या द्वेष होगा ही, इस प्रकार मन इन्द्रियों को और इन्द्रियां मन को खींचती रहेंगी और दोनों साथ-साथ मार्च करता रहेंगे। अतः अच्छा यह है कि हम इन्द्रियों और मन को किसी दूसरे स्थान में लगा दें। दूसरे रस का स्वाद मिलने पर विषय रस निश्चित रूप से सूखेगा। इस प्रकार दमन भी नहीं होगा और योग भी सध जाएगा। जैसे बच्चे को टाफी खाने से मना करें तो

वह बेचारा मां की आज्ञा मानना चाहे भी तो टाफी के स्वाद का लालच उसके बाल सुलभ मन को खींचकर ले ही जाएगा और चोरी-चोरी खाने को प्रेरित करेगा, लेकिन उसके हाथ से टाफी लेने के पहले कोई स्वादिष्ट फल उसके हाथ में दे दिया जाय तो उसके लिए टाफी का मोह छोड़ना अपेक्षाकृत सरल होगा।

इन्द्रियां चुप बैठ नहीं सकती, मन खाली रह नहीं सकता, इसलिए भगवान कहते हैं कि उनपर अंकुश लगाने के बदले उन्हें मुझमें लगाओ, मेरा चिंतन करो तभी वे संयमित रह पाएंगी और संयमित इन्द्रियों और मन वाले की ही बुद्धि स्थिर रह पाएगी क्योंकि इन्द्रियां विषयों में विचरण करके संवेदनाएं ग्रहण करती हैं तथा मन तक पहुंचाती है फलस्वरूप मन में संकल्प विकल्प उठते हैं जो बुद्धि को अस्थिर और चंचल करते हैं और उसे ऐसे निर्णय लेने में विवश करते हैं जो मन इन्द्रियों को प्रेय हो। इस प्रकार प्रतिष्ठा बुद्धि की नहीं मन इन्द्रियों की ही रहती है, वे जो चाहे वही होता है।

पहले भी कहा जा चुका है गीता के द्वितीय अध्याय में सूत्र रूप में सारी बातें कही हुई हैं। बाद में अर्जुन के प्रश्न करने पर एक-एक बात का विस्तार किया गया है। यहां 'युक्त आसीत' में ध्यान योग का और 'मत्पर' में भक्ति योग का सूत्र रूप से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार ज्ञान के बाद कर्म और अंत में भगवान भक्ति तक पहुंच जाते हैं और साधक के लिए क्रम उल्टा है उसे शुरुआत भक्ति तथा कर्म से कर ज्ञान तक पहुंचना होगा।

शंकराचार्य जी कहते हैं कि कर्म के द्वारा भगवत् प्राप्ति हो ही नहीं सकती, वह तो ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। तो क्या कर्म फिजूल और भक्ति हेय है? ज्ञान, कर्म और भक्ति, ईश्वर प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन नहीं बल्कि एक ही मार्ग के अलग-अलग भाग हैं। यदि कोई गुरु अपने साधक शिष्य को उपदेश दे कि यह देह और उससे संबंधित सुख-दुख अनित्य, असत्य है, सत्य तो केवल सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है तो शिष्य तो श्रद्धावश गुरु की बात को शत-प्रतिशत सच मानेगा ही। यानि उसे पता लग गया आत्मा क्या है लेकिन क्या इससे उसे रंच मात्र भी लाभ होगा? क्या यह 'पता लगना' उसे ब्रह्मज्ञानी बनाएगा? ब्रह्मज्ञानी केवल बौद्धिक ज्ञान से तो बना नहीं जा सकता इसके लिए साधक को साधना की विशेष प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक है,

उसका चित्त निर्मल होगा, बुद्धि स्थिर और प्रखर होगी, मन शुद्ध होगा, इन्द्रियां संयमित रहेगी, मन इन्द्रियों के रस का गुलाम न होगा तभी उस ज्ञान को पाया जा सकता है और इस साधना क्रम में कुछ तो अपने आप घटित होता है, कुछ साधक के प्रयत्न के द्वारा प्राप्त किया जाता है और प्रयत्न का एक महत्वपूर्ण सोपान 'मत्पर:' शब्द में सूत्र रूप से छिपा हुआ है।

इन्द्रियों को विषय रस से हटाना तो साधक का निषेधात्मक प्रयत्न है इसका सकारात्मक पक्ष है उसे श्री कृष्ण के चरणों में लगाना क्योंकि इन्द्रियों को फिर भी हम कुछ समय के लिए निष्क्रिय रख सकते हैं मन तो एक क्षणांश के लिए भी विचार करना बंद कर ही नहीं सकता उसे टिकने के लिए कुछ न कुछ स्थान चाहिए। एक रस से हटाना है तो दूसरे रस का स्वाद मिलना चाहिए तभी वह सम्भव है। भूख प्यास मानव के लिए रस ही क्या, शरीर की कितनी बड़ी मांग है लेकिन कुछ लोग ताश के 'रस' में भूख प्यास की आवश्यकता से भी मुक्त हो जाते हैं, स्वादिष्ट भोजन या नींद के सुख और रस की तो बिसात ही क्या? मां की गोदी के लिए तड़पता रोता बच्चा खिलौने के रस में रम जाता है अर्थात् विषय रस से पिंड छुड़ाने के लिए मन को दूसरा रस देना होगा और कृष्ण के चरणों के प्रति प्रेम से अद्‌भुत कोई रस दूसरा है ही नहीं। श्रीकृष्ण तो साक्षात् रस स्वरूप ही हैं। वे सबसे अधिक लोकप्रिय इसलिए भी हैं कि उनकी कथा में वात्सल्य, हास्य, करुण, श्रृंगार से लेकर वीर, रौद्र आदि सब रस है। जिस व्यक्ति को जिस रस में रुचि हो वह उसी के माध्यम से उनका ध्यान कर सकता है। बड़े-बड़े साधुओं को ही ले लीजिए, किसी का प्रेम तो माखन चोर कन्हाई में है, किसी का भक्तवत्सल द्वारिकाधीश में और किसी के नयनों में अर्जुन का रथ खींचते गीता का उपदेश देते कृष्ण की छवि बसी रहती है, कोई राधा कृष्ण की युगल जोड़ी को हृदय में बैठाए रखता है। यदि गीता का द्वितीय अध्याय पढ़ते-पढ़ते किसी के मन में आता रहे यह सब तो ठीक, देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता को माना, सुख-दुख को आता जाता माना, सुख दुख से ऊपर उठने से स्थितप्रज्ञता आने की बात समझी, पर करें क्या इसके लिए? तो उसके लिए इस श्लोक में सूत्र है 'मत्पर'। भगवान के परायण होना उनके प्रति प्रेम जगाना, उनकी शरण ग्रहण करना सुख-दुख का सहारा एक मात्र प्रभु को ही समझना, हर

कार्य प्रभु के निमित्त करना और अपने को उनके हाथ की कठपुतली समझना तथा हमेशा ऐसा व्यवहार करना जिससे हम समझें कि प्रभु प्रसन्न होंगे, आदि ही भक्ति के विभिन्न के सोपान हैं जिनका वर्णन गीता में आगे स्थान-स्थान पर होगा।

इस प्रकार गीता में भगवान ने पहले उच्चतम ज्ञान, आत्मा की अनश्वरता बताया जिसे जानने के बाद विषयों, भावनाओं और विचारों के जगत के समस्त बंधंन टूट जाते हैं इसके बाद समत्व रूपी बुद्धि योग, निष्काम कर्म, इन्द्रियों का निग्रह, मन को वश में करना तथा प्रभु के परायण होना इन सबका क्रमशः उपदेश दिया। विकास का क्रम देखें तो यूं होगा- मन को भगवान में लगाने से विषयों के प्रति उसका आकर्षण कम होगा, विषय रस की निवृत्ति होने से इन्द्रियां विषयों के पीछे दौड़ना बंद करेंगी जिससे उनके प्रति कामना नहीं होगी। काम दूर हो जाने से इच्छित वस्तु का राग और अनिच्छित का द्वेष अपने आप समाप्त हो जाएगा। जब राग-द्वेष नहीं रहेगा जो सुख-दुख भी नहीं व्यापेगा। कामना न रहने पर कर्म भी निश्चित रूप से निष्काम होंगे, उनके फलों और भोगों की आशा नहीं रहेगी जिससे बुद्धि में हानि-लाभ, शुभ-अशुभ, जय-पराजय आदि का विक्षेप नहीं होगा। ऐसी बुद्धि समत्व में स्थिर होगी और बुद्धि का समत्व ही योग है जिसके लिए आत्मा का ज्ञान भी अपेक्षित है। विकास का यह क्रम समझकर ही साधक अपनी साधना का पथ सुनिश्चित कर निरंतर अभ्यास कर सकता है।

लेकिन साधक को सफल होना है तो केवल विकास का मार्ग जान लेना पर्याप्त नहीं, उसे पतन का क्रम भी अच्छी तरह समझकर रहना होगा ताकि साधना पथ पर अग्रसर होते समय वह अपने को पतन से सुरक्षित करता चले। आगे के दो श्लोक में भगवान पतन का मनोविज्ञान बताते हैं।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।
क्रोधात्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

विषयों का ध्यान करने से मनुष्य के मन में उनके प्रति आसक्ति पैदा होती है, आसक्ति कामना को जन्म देती है, कामना से क्रोध पैदा होता है।

क्रोध से चित्त में मोह होता है, मोह से स्मृति में विभ्रम हो जाता है। स्मृति के लोप से (विवेक) बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश से स्वयं मनुष्य का ही नाश हो जाता है।

गीता तो चित्त को विषयों से हटा कर ब्रह्म में लगाने का शास्त्र ही है अत: स्वाभाविक रूप से इसमें मन बुद्धि के स्वभाव संबंधी बातें कही गई है लेकिन इन दोनों श्लोकों में मनोविज्ञान अत्यन्त स्पष्ट रूप से मुखरित हुआ है और आश्चर्य होता है कि छह हजार साल पहले हुए वेद व्यास जी मनोविज्ञान के ऐसे सूक्ष्म ज्ञाता थे कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी लोहा मान लें।

साधक स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयत्नशील है, लगन के साथ साधना कर रहा है, विषयों से दूर रहता है, दुख-सुख में सम रहने का प्रयत्न करता है, ध्यान लगाता है, जप करता है, किन्तु जरा सी आसावधानी उसे किस प्रकार पथभ्रष्ट कर देती है यह इन श्लोकों में बताया गया है, यह पतन कभी आकस्मिक नहीं होता, इसका एक निश्चित क्रम है। शंकराचार्य जी ने इस संबंध में गेंद का उदाहरण दिया है। जैसे असावधानी वश यदि गेंद सीढ़ी में टप्पा खा जाए तब पहली सीढ़ी पर टप्पा खाया उस समय तो कोशिश करके उसे पकड़ा जा सकता है और उस समय न पकड़ी जाए तब तो फिर वह पांचवीं और दसवीं सीढ़ी पर टप्पा खाते हुए नीचे पहुंच कर ही रहेगी, उसे कोई नहीं पकड़ सकता। इसी प्रकार पतन का यह क्रम शुरु हो तो अत्यधिक सजगता से पहले चरण में ही संभल जाना चाहिए वर्ना पतन निश्चित है।

जरा सी असावधानी यह हुई कि भगवान के बारे में सोचते-सोचते कभी मन ने विषयों का चिंतन कर लिया, बस फिर तो यदि उसी समय अनुशासित न किया जाय तो बारबार वह वस्तु या व्यक्ति हमारे ध्यान में आता ही रहेगा, हमारा मन जब बार-बार उसकी ओर खिंचा जायगा तो वह हुई आसक्ति, यानि मानसिक रूप से उससे जुड़ना। आसक्ति जब बहुत बढ़ जाएगी तो हम चाहेंगे कि वह हमें मिल ही जाए। यही काम है। अब होता यह है कि संसार

में भोग्य वस्तुओं से ज्यादा बड़ी संख्या उन्हें चाहने वालों की है, नौकरी के एक एक पद के लिए कम से कम सौ उम्मीदवार होते हैं अतः ९९ प्रतिशत चांस तो वह न मिलने की ही होती है। जब हमारी कामना की पूर्ति नहीं होती तो हमें क्रोध आता है- अपनी परिस्थिति पर, भाग्य पर, जिस व्यक्ति के कारण कामना की पूर्ति में बाधा हुई उस पर। इसके कारण हम भ्रमित, सम्मोहित हो जाते हैं। अर्थात् जो जैसा है वैसा न दिख कर हमें कुछ और नजर आने लगता है। खिलौना न मिलने पर बच्चे को लगता है कि मां उसे बिलकुल भी प्यार नहीं करती। और इससे स्मृति चली जाती है। उसे याद भी नहीं आता कि मां ने उसे कभी मुंहमांगी वस्तु दी है, उसे यह भी याद नहीं रहता कि मां सम्माननीय है और उसका आदर करना चाहिए। फिर तो गुस्से में वह क्या-क्या अकरणीय कार्य कर जाता है यह भी उसे याद नहीं रहता।

स्मृति का नाश होने पर बुद्धि कार्य करना बन्द कर देती है। बुद्धि का कार्य है विवेक, अर्थात् उचित-अनुचित का निर्णय लेना। यह कार्य वह अपने विगत अनुभवों और पढ़े, सुने, देखे हुए ज्ञान की स्मृति के आधार पर करती है। जिसने पढ़ा-सुना या देखा है कि सांप के काटने से आदमी मर जाता है उसकी स्मृति में यह बात अंकित हो जाती है और सांप देखते ही तुरन्त उसे ध्यान आ जाता है, उसे प्रयास भी नहीं करना पड़ता और तब वह उससे दूर रहने का निर्णय लेता है। लेकिन मनुष्य की सहायता करने वाली स्मृति का ही लोप हो जाए तो बुद्धि का ही नाश हो जाएगा। वह शायद समझ ले कि सांप तो कोई बड़ी मजेदार वस्तु जान पड़ती है, इसे जरा छेड़कर देखना चाहिए और फिर क्या होगा यह कहने की आवश्यकता नहीं। बुद्धि का नाश मनुष्यका ही नाश है।

यदि विषयों के ध्यान मात्र से ही मनुष्य का नाश हो जाएगा तो इस जगत में रहना संभव ही नहीं है। चारों ओर विषय बिखरे पड़े हैं, आदमी कब तक उनके बारे में विचार करने से अपने को बचाता फिरेगा? वस्तुएं हैं तो आंखें देखेंगी ही, आंखें देखेंगी तो मस्तिष्क में संवेदना होगी ही। अच्छी बुरी, अनूकुल-प्रतिकूल, ग्रहण करने लायक, त्यागने योग्य, कुछ तो मस्तिष्क अपना निर्णय लेगा ही। यह सब बिना विचार के कैसे संभव है? इसका मतलब यही है कि अपने को पतन से बचाना है तो हिमालय में ही जाकर रहना होगा जहां

आगे पीछे अगल-बगल बर्फ के सिवा कुछ दिखाई ही न दे। यह प्रश्न अर्जुन के जिज्ञासु मन में स्वाभाविक रूप से उठ सकता था। वह तो पहले ही हिमालय जाने को प्रस्तुत था। भगवान कहते हैं कि आदमी विषयों के बीच रहते हुए भी पतन से बचे रह कर उत्थान में लगा रह सकता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

जो राग और द्वेष से रहित होकर, अपने वश में की गई इन्द्रियों के द्वारा विषयों में विचरण करता है ऐसा संयमित पुरुष प्रसन्नता (प्रसाद) को प्राप्त होता है।

विषयों के विष में भी प्रसन्न रहा जा सकता है यदि (१) हमारे मन में उनके प्रति राग या द्वेष न हो (२) हमारा अपने आप पर नियंत्रण हो।

वस्तुएं तो वास्तव में जड़ हैं, निर्जीव हैं। वे हमारा अच्छा या बुरा कर ही क्या सकती हैं? उन्हें तो शक्ति देता है हमारे मन का राग और द्वेष। एक सिगरेट किसी को तो अत्यन्त आनन्द से भर देती है, कोई नाक भौं सिकोड कर पीने वाले को कोसने लगता है और किसी को कुछ नहीं होता, वह खुद नहीं पीता पर दूसरा पिये तो उसे आपत्ति नहीं। कोई गलत काम दूसरा बच्चा करता है तो मां को कुछ नहीं होता लेकिन अपना बच्चा करे तो बड़ा टेंशन हो जाता है क्योंकि अपने बच्चे से राग है, दूसरे के बच्चे से राग द्वेष कुछ नहीं। और यदि कोई बच्चा वहां ऐसा हो जिसे बहुत ही दुष्ट समझती है तो द्वेष के कारण उसकी जरा-जरा सी भूल भी उसे परम दुष्टता नजर आएगी।

माता-पिता बच्चे के साथ बाजार जाते हैं, खिलौने की दुकान में बच्चे के उत्साह और उछल कूद का अंत नहीं है, माता-पिता मुस्कुराते हुए बच्चे को और खिलौने को देखते हैं। वे खिलौने को देखकर खुश होते हैं, बड़ाई करते हैं, लेकिन राग द्वेष न रहने के कारण उनके मन पर कोई असर नहीं होता। वही मां साड़ी की दुकान पर चंचल चित्त हो जाती है जब कि पिता पुत्र आराम से इधर-उधर देखने लगते हैं और मर्दाने पोशाक की दुकान पर

पिता अपनी कम क्रय शक्ति को कोसता है, मां-बेटा मस्त रहते हैं।

इसीलिए भगवान कहते हैं कि मन के राग द्वेष को हटाओ और फिर भी निश्चिंत न रहो। इन्द्रियों और मन पर सजग अनुशासन रखो। इन्द्रियां घोड़े हैं, मन लगाम, बुद्धि सारथि और हम रथी। रथी सारथि को अनुशासित रखे और सारथि लगाम को खींचे रहे ताकि घोड़े उसके वश में रहे। जहां गेंद हाथ से टपकी उसे लपक लें। जहां लगा कि इन्द्रियां और मन फलां वस्तु में जरा अधिक ही आकर्षित हो रहे हैं, तुरन्त उन्हें अनुशासित कर लें। भगवान कहते हैं कि ऐसा संयमित पुरुष प्रसाद को प्राप्त होता है।

मन जब इच्छित वस्तु को पा कर उत्साहित होता है तो उसे मजा कहते हैं। इस स्थिति में इच्छा भी बढ़ती जाती है और पूर्ति भी होती जाती है। किन्तु जब मन शांत रहता है, उसे कोई चाह नहीं रहती, किसी प्रकार चंचलता नहीं रहती, तब जो आनन्द और प्रफुल्लता प्राप्त होती है उसे प्रसाद कहते हैं जो इन्द्रियों को विषयों के प्रति उत्तेजित नहीं रखता। जैसे वेस्टर्न म्यूजिक पर डिस्को लाइट में नाचने में आनन्द तो है पर इसे 'मजा' की श्रेणी में रखना चाहिए लेकिन जो आनन्द प्रकृति के सुरम्य वातावरण में कलकल बहती गंगा की स्वच्छ धारा के किनारे बैठने से मिलता है वह प्रसाद है क्योंकि इसका संबंध इच्छा पूर्ति से नहीं, इच्छा विहीनता से है।

पूजा कीर्तन आदि के अंत में प्रसाद दिया जाता है जिसे ग्रहण कर लोग आनन्दित होते हैं यह वास्तव में कीर्तन के बाद चित्त के प्रसाद की नाटकीय अभिव्यक्ति है।

अर्जुन के मन रूपी कैनवस को अस्थिर करने के लिए अगला प्रश्न उठ सकता है- मन की शांति मिल ही गई तो क्या? भगवान इस प्रश्न का उत्तर अगले श्लोक में देते हैं-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

प्रसाद से सारे दुखों का अन्त हो जाता है क्योंकि प्रसन्न चित्त व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

सुख और दुख का सीधा संबन्ध मन की शांति से है। हम सब सुख के लिए प्रयत्न करते हैं लेकिन किसी को भी दुनिया में सुख नहीं क्योंकि हम समझते हैं कि सुख का सम्बन्ध धन, पद, प्रतिष्ठा और भोग से है। किसी भी वस्तु को भोगने में हमें जो अस्थाई सुख मिलता है वस्तुतः वह भी मन की शांति ही है। जब हम किसी वस्तु की कामना करते हैं तो उसे पाने के लिए मन बेचैन हो उठता है, जब वह वस्तु मिल जाती है तो मन की तरंग शांत हो जाती है और हम सुख का अनुभव तब तक करते हैं जब तक कोई दूसरी कामना या घटना मन को फिर बेचैन न कर दे। चाट खाने के इच्छा वाले के हाथ में चाट का दोना आते ही वह सुख का अनुभव करेगा। जैसे ही मुंह में चाट आ गई- आह, मजा आ गया। पर दूसरे ही क्षण, यदि चाट में अधिक मिर्च पड़ गई हो तो सारा सुख छटपटाहट में बदल जाएगा, फिर तो पानी का गलास ही उसे सुख दे सकता है।

मन में वासना के कारण राग द्वेष की लहरें हिलोरें लेती रहती है, हम उन्हीं से हो कर वस्तुओं को देखते हैं, लहराते पानी में पड़ी वस्तु हमें जैसी है वैसी दिखाई नहीं पड़ती, हमारी बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है, वह स्थिर नहीं हो पाती किन्तु जब मन शांत रहता है तो हम संसार को ठीक-ठीक रूप में समझ पाते हैं। तब हमें यह नहीं लगता कि मैंने तो किसी का बुरा कभी किया ही नहीं फिर सारे दुख मुझे ही क्यों, फलां मुझसे ऐसा व्यवहार क्यों करता है, अमुक वैसा क्यों करता है। शांत मन रहता है तो हम देखते हैं यह संसार ऐसा ही है, यहां सबके साथ ऐसा ही हो रहा है और ऐसा ही होता रहेगा। सारे क्यों-क्यों निकल जाते हैं और बुद्धि स्थिर हो जाती है।

बुद्धि की स्थिरता अस्थिरता किस प्रकार हमें सुखी या दुखी करती है इसका वर्णन भगवान आगे के श्लोक में करते हैं।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

जो व्यक्ति युक्त नहीं है उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, अयुक्त व्यक्ति

भावना (ध्यान) भी नहीं कर सकता, भावना के बिना शांति नहीं, और अशान्त के लिए सुख कहां?

प्रसंग सुख प्राप्ति के उपाय का और उसमें मन बुद्धि की भूमिका का चल रहा है। पहले ही श्लोक में बताया जा चुका है कि मन शांत होने से प्रसन्नता की प्राप्ति होती है और दुख दूर हो जाते हैं। दुख की निवृत्ति का ही दूसरा नाम सुख की प्राप्ति है। सुख का ही दूसरा नाम शांति है। ऐसा कौन है जगत में, जो कहे कि मैं सुखी हूं लेकिन मन बेचैन रहता है या मेरा मन शांत तो है पर मुझे दुख बहुत है।

प्रस्तुत श्लोक केवल आध्यात्मिक साधक के लिए ही नहीं। लौकिक धरातल पर भी यह बिलकुल सही है और मनन करने योग्य है।

पहले ही बताया जा चुका है कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण की गई संवेदनाओं को एक मुनीम की भांति मन बुद्धि के सामने प्रस्तुत करता है। बुद्धि अफसर की भांति उस पर विचार कर निर्णय लेती है और मन फिर उस निर्णय को इन्द्रियों तक पहुंचाता है। आफिस में यदि अफसर और मुनीम के बीच तालमेल न हो तो काम कैसे ठीक होगा।

अस्थिर बुद्धि और चंचल मन वाला व्यक्ति अयुक्त होता है। उसकी बुद्धि और मन में ही सही तालमेल नहीं होता। मन पहले तो संवेदनाओं को यथारूप में बुद्धि तक पहुंचाता नहीं और फिर बुद्धि जो निर्णय लेती है उसे सुनने के लिए मन उसके पास होता नहीं। चाय की दुकान पर अड्डेबाजी करते सरकारी क्लर्क की भांति वह तो इन्द्रियों के साथ विषयों में रमण करने गया हुआ रहता है। यही कारण है कि हम जानबूझकर भी गलत काम करते हैं। सिगरेट फेफड़े के लिए कितनी खतरनाक है, यह भला डाक्टर से अच्छी तरह कौन जानेगा फिर भी डाक्टर तक सिगरेट की लत नहीं छोड़ पाते क्योंकि मन तो इन्द्रियों के पीछे भाग रहा है, वह बुद्धि के नियंत्रण में उससे युक्त होकर रहता नहीं।

इस प्रकार विपरीत दिशा में चलने वाले मन बुद्धि के स्वामी के पास शानदार योजनाएं हो सकती है लेकिन भावना नहीं आती, उन्हें क्रियान्वित करने

में मन एकाग्र नहीं होता। नतीजा यह होता है कि उसके सारे प्लान धरे के धरे रह जाते हैं। उसे अपने पर खीज होती है। अपने अनुसार न बुद्धि चल पाती है न मन। इस प्रकार भावना का न होना मन को अशांत कर देता है और अशांत को सुख कहां।

अर्थात् सुख शांति के लिए युक्त बुद्धि का होना आवश्यक है लेकिन हमारी बुद्धि युक्त रह क्यों नहीं पाती? एक बार फिर इन्द्रिय सुख की बात बीच में आ जाती है। भगवान आगे कहते हैं-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

जिसका मन विचरण करती हुई इन्द्रियों के पीछे पीछे भागता है इन्द्रियां उसके विवेक (प्रज्ञा) को इस प्रकार हर ले जाती है जैसे पानी में बहती नाव को वायु।

पानी में बहती हुई नाव को संचालित करने वाला कोई न हो तो वह पूरी तरह वायु के वश में होती है। कभी एक दिशा में बहती है, कभी दूसरी दिशा में। इस प्रकार थपेड़े खाती हुई कभी यदि तूफान में फंस जाए तो टुकड़े टुकड़े हो जाती है। यही हालत हमारे मन की है जो पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विभिन्न प्रकार के सुख भोगना चाहता है, हर इन्द्रिय उसे अपने अपने ढंग से नचाती है और व्यक्ति की बुद्धि काम करना बंद कर देती है। बस फिर, अशांतस्य कुतः सुखम्। सुख के पीछे जितना दौड़ लगाने का प्रयत्न करते हैं उतने ही सुख से दूर हो जाते हैं, कुछ समझ में नहीं आता कैसे क्या हो गया।

प्रज्ञा तो साधारण शिक्षित व्यक्ति के पास भी होती है लेकिन वह स्थिर नहीं होती। अच्छे बुरे का ज्ञान होता ही है लेकिन विषय भोग की लालसा में टिक नहीं पाता, सत्य के प्रति आदर होता ही है लेकिन लोभ झूठ बुलवा देता है। इसलिए केवल ऊंची ऊंची बातें जानने समझने या पढ़ने से कुछ नहीं हो सकता, स्थितप्रज्ञ होने की आवश्यकता है, और स्थितप्रज्ञ होने के लिए क्या करना होगा यह साधना भी भगवान लक्षणों के साथ साथ ही बताते जा

रहे हैं, यहां उसी का उपसंहार करते हैं-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।

अतः हे महाबाहो, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है जिसने इन्द्रियों को इन्द्रिय भोगों से सब प्रकार से संयमित कर लिया है।

उक्त श्लोक में उपसंहार करते हुए भगवान स्थितप्रज्ञ का एक और लक्षण अंकित करते हैं- दुर्जय इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोक लेना। जिन इन्द्रियों के विषय में भगवान स्वयं कहते हैं कि 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः' और 'हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि,' उन्हें निगृहीत कर लेने के लिए सचमुच कितना मनोबल चाहिए। यह मनोबल ही प्रज्ञा स्थित रख सकता है जिससे अखण्ड प्रसाद की प्राप्ति संभव है। स्थितप्रज्ञ को अपनी इन्द्रियों को कुचल नहीं डालना है न ही संसार के विषय भोग नष्ट कर देने हैं या उनसे दूर भाग जाना है, उसे तो इन्द्रियों को संयमित करते हुए उसी संसार में विचरण करना है जिसमें अन्य लोग करते हैं। बाह्य संसार वैसा ही रहते हुए उसका अन्तर्जगत् बिल्कुल बदल जाता है इसे स्पष्ट करते हुए भगवान अगले श्लोक में कहते हैं-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

जो सब प्राणियों के लिए रात होती है उसमें संयमी जागता है और जब सब प्राणी जागते हैं तो मुनि को रात लगती है।

पढ़ कर यदि शाब्दिक अर्थ ग्रहण करें तो यह श्लोक बड़ा ही अटपटा है जिसका सीधा मतलब यह ठहरता है कि रात के समय जागने वाला और दिन के समय सोने वाला मुनि है। तब तो संसार भर के चोर और असामाजिक

तत्व ही मुनि के श्रेणी में रखे जाएंगे।

अध्यात्म ज्ञान मननशील गुरुओं द्वारा मननशील शिष्यों को दिया जाता है अतः उनके वचनों को शब्दार्थ के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसी अटपटी शब्दावली का प्रयोग तो विशेष रूप से मनन के लिए प्रेरित करने के लिए किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि इसी जगत में विचरण कर दूसरे व्यक्ति के समान कार्य करते हुए भी स्थितप्रज्ञ की चेतना का जगत् कितना भिन्न होता है, संसार के वस्तुओं को ग्रहण करने का उसका दृष्टिकोण कितना अलग होता है।

साधारण व्यक्ति जाग्रत जगत को सत्य मानता है लेकिन मुनि उसे स्वप्नवत् मानता है, साधारण व्यक्ति जिन वस्तुओं को अति मूल्यवान समझता है और उन्हें पाने के लिए जमीन आसमान एक किए रहता है उसे स्थितप्रज्ञ मुनि कांच के टुकड़ों के समान समझता है और सोचता है कि आत्मानन्द को छोड़ लोग क्यों इन सुखों के मिथ्या आभास के पीछे भागते फिरते हैं?

दूसरी और साधारण व्यक्ति समझ ही नहीं पाता कि मुनि बैठे-बैठे क्या चिंतन करता रहता है? समस्त सांसारिक सुखों को त्याग कर वह किस दुनिया में रहता है? जो दिखाई नहीं देता, अनुभव नहीं किया जा सकता उसे सत्य क्यों कहता है? जगत को मिथ्या क्यों समझता है? आंख बंद कर लेने पर साधारण व्यक्ति को अंधेरा दिखाई देता है पर स्थितप्रज्ञ को आत्मा का प्रकाश दिखाई देता है।

इस प्रकार स्थूल जगत में स्थूल शरीर द्वारा विचरण करते हुए भी दोनों के सूक्ष्म जगत एक दूसरे के सर्वथा विपरीत होते हैं, इसी को सांकेतिक रूप में इस भाषा में कहा गया है कि जहां सबके लिए दिन है वहां मुनि के लिए रात।

स्थितप्रज्ञ की उपमा के समुद्र के साथ करते हुए भगवान कहते हैं-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोतिनकामकामी ।।७०।।

जैसे पूर्ण और अचल रहने वाले समुद्र में सब ओर से नदियां प्रवेश

कर जाती हैं उसी प्रकार जिस पुरुष में सारी कामनाएं प्रवेश कर जाती है वही शान्ति को प्राप्त है, कामनाओं को चाहने वाला नहीं।

सागर सहज रूप से अचल और उद्वेग रहित होता है क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है। उसे कहीं जाना नहीं है, वह किसी से जल पाने का मोहताज नहीं है। चारों ओर से नदियों का अपार जल उसमें प्रवेश करता है लेकिन उफनती उछलती नदियां भी जब सागर में समाती हैं तो किसी प्रकार का उद्वेग वहां पर नहीं होता, शान्त भाव से नदी का जल समुद्र में मिल जाता है। नदी की पहचान, उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और समुद्र की सतह में एक सेन्टीमीटर की भी वृद्धि नहीं होती।

आत्मसंयमी मुनि सागर की भांति सहज, गम्भीर और आत्मसंतुष्ट होता है, अपने आप में परिपूर्ण रहने के कारण जगत् की कामनाएं अर्थात् संवेग उस तक पहुंच कर अस्तित्वविहीन हो जाते हैं, उसे जरा सा भी उद्वेलित नहीं कर पाते। ऐसा व्यक्ति ही सतत् शांति का उपभोग कर सकता है लेकिन जो भोगों की कामना रखता है उसे शांति की प्राप्ति कैसे होगी?

समुद्र के साथ उपमा देने पर एक बात और समझ में आती है कि आत्मद्रष्टा मुनि की शांत चित्तता सहज होती है क्योंकि वह आत्मसंतुष्ट है और आनन्द का सबसे बड़ा स्रोत उसके पास है। संयमी पुरुष साधक नहीं, सिद्ध होता है, विषयों और कामनाओं के प्रति उसकी निस्पृहा ज्ञान जनित है।

जैसे समुद्र तट पर दो व्यक्ति घूम रहे हों और चांदी सा चमकता हुआ कुछ दिखाई पड़े। एक व्यक्ति ने उसे चांदी समझा लेकिन उसके लोभ में पड़ना नहीं चाह रहा। वह भांति-भांति से अपने को समझाता है और उसे उठाने के लिए अपने आप को रोकता है। नजरें बार-बार उस ओर जाती हैं पर वह अपना ध्यान उससे हटाने की कोशिश करता रहता है। यह साधक की अवस्था है जब कामनाएं उसे उद्वेलित तो करती है लेकिन वह उन पर विजय पाने की कोशिश करता है। इसमें इसका मन अशांत रहता है, हां यह बात जरूर है कि उसकी यह अशांति भी अन्य व्यक्तियों से भिन्न, उसे ऊपर उठाने वाली है।

किंतु जिस व्यक्ति ने समझ लिया है कि यह चांदी का टुकड़ा नहीं बल्कि धूप में चमकती हुई सीपी है, उसका मन क्या क्षणार्ध लिए भी विचलित होगा! इस प्रकार ज्ञान के कारण उनका अनुद्वेग सहज होगा, समुद्र की भांति, जिसे उस वस्तु को प्राप्त करने की कोई कामना ही नहीं है, उसकी चमक आंखों में प्रवेश करती है पर मन को जरा भी विचलित कर नहीं पाती। सिद्ध पुरुष की यही सहज समाधि की स्थिति है। उसकी शांति कभी भग्न नहीं हो सकती।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।

जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़ कर स्पृहा, ममता और अहंकार से रहित हो व्यवहार करता है वह शान्ति को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान शान्ति प्राप्ति की चार शर्तें बताते हैं। १. समस्त कामनाओं का त्याग २. निस्पृह होकर व्यवहार करना ३. निर्मम हो जाना ४. निरहंकारी होना। ये चारों शर्तें एक के बाद एक सीढ़ी हैं।

मनुष्य अपनी कामनाओं का त्याग कर भी दे तो स्पृहा बनी रह सकती है- यह अच्छा है, यह बुरा है यह बात सोचकर परेशान हो सकता है। स्पृहा का भी त्याग हो जाए फिर भी अपनों से ममत्व तो रह ही सकता है । निर्मम का अर्थ निर्दयी नहीं बल्कि निः मम अर्थात् मेरे पन का त्याग है। ममता त्यागने के बाद भी अहंकार बना रह सकता है। भगवान कामना से लेकर अहंकार तक सब त्यागने को कहते हैं तब शान्ति स्थायी रह सकती है।

देहधारी के लिए अहंकार के त्याग का सबसे सुगम उपाय है उसकी धारा को मोड़ देना- मैं इसका पिता, उसका पुत्र, फलां का बॉस हूं सोचने के बदले प्रभु का दास हूं, प्रभु का प्यारा हूं, भगवान का सेवक हूं, आदि विचार हमें उस अवस्था तक पहुंचाने का साधान बन सकते हैं। यह परम उत्कृष्ट अवस्था है और मानव जन्म का चरम लक्ष्य है। इसका वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मानिर्वाणमृच्छति ।।७२।।

हे अर्जुन, यही ब्रह्म स्वरूप में अवस्थिति है। इसे पाकर मनुष्य फिर संसार के मोह भ्रम में नहीं पड़ता, मृत्यु के समय भी इसी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहकर वह ब्रह्म में लीनता प्राप्त करता है।

यह श्लोक एक बार पुनः हिमालय की कन्दराओं की तपस्या को जगत् के बीच बाजार में ले आता है जो गीता की परम विशेषता है। ब्रह्मर्षि, महर्षि वे नहीं जो रात दिन प्रभु के भजन कीर्तन में डूबे रहते हैं। ब्रह्म की स्थिति का साम्य चिर शांति की स्थिति से किया गया है जिसका वर्णन पिछले श्लोक में हुआ है। भगवान ने पिछले श्लोक में शांति की शर्तें बताई और अब कह रहे हैं कि शांति की वही स्थिति ही ब्रह्म की स्थिति हैं। जीवन में निर्मम निरहंकारी और निष्काम होकर जो व्यवहार कर सके वही ब्रह्मर्षि है। यही मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि बताई।

स्मरण करें कि अर्जुन ने पूछा था- समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ के लक्षण क्या हैं? समाधि का अर्थ है वह स्थिति जिसमें योगी ब्रह्म के साथ तद्रूप हो जाता है। इसे ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। यहां देखें, भगवान ने ब्राह्मी स्थिति की इस चिर परिचित अवधारणा को निरस्त कर नया ही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके मत में समाधि की स्थिति वही है जब कामना, स्पृहा, ममत्व और अहंकार छूट जाए, मनुष्य संसार में विचरण करता रहे।

एक सामान्य मान्यता है कि ब्रह्म की स्थिति का अर्थ है- निर्वाण अर्थात् मनुष्य जब मृत्यु के पश्चात पुर्नजन्म के चक्र में नहीं फंसता तो हम कहते हैं कि उसकी आत्मा परमात्मा में लीन हो गई, वह सदा के लिए मुक्त हो गया। मुक्ति का अर्थ जन्म बंधन से छूटना है। लेकिन गीता में तो भगवान इस मोक्ष के बारे में नहीं, जीवन्मुक्ति के बारे में बताते है। जीवन्मुक्त व्यक्ति मृत्यु के बाद नहीं, जीवन रहते हुए संसार में विचरण करते हुए भी मुक्त है। क्योंकि मुक्ति मात्र जन्म बंधन से नहीं वरन् कर्म बंधन, ममत्व बंधन, काम

बंधन, राग द्वेष बंधन, अहंकार बंधन, सभी से छूटना है। जो इन सब बंधनों मे बंधा हुआ नहीं उसकी आत्मा तो जीते जी ही परमात्मा में लीन है, वह तो स्वयं ही ब्रह्म स्वरूप हैं- 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

भगवान कहते हैं कि एक बार यह स्थिति प्राप्त हो जाए तो वह छूटती नहीं। ऐसा नहीं होता कि कुछ क्षण के लिए हम परमानन्द में मग्न रहें और फिर भंग होते ही वापस पुरानी निकृष्ट अवस्था में आ जाएं। ऐसा आनन्द तो ड्रग द्वारा मिलता है। यह अस्थायी आनन्द स्वाभाविक आनन्द नहीं है। इसके लिए तो जेब से बस कुछ पैसे निकालने की आवश्यकता होती है किन्तु ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने वाले को यह स्थिति अकस्मात् नहीं प्राप्त होती, इसके लिए कामना, स्पृहा, ममत्व और अहंकार का पूर्ण त्याग करना पड़ता है अतः एक बार ये चार बातें जीवन से निकल जाएं तो फिर संसार की कोई वस्तु, कोई सुख दुख मनुष्य को स्पर्श भी नहीं कर सकता। कामना नहीं, ममता नहीं, अहंकार ही नहीं तो फिर दुख होगा कहां से? अतः यह स्थिति एक बार मिल जाए तो अंत काल में भी ब्रह्म निर्वाण दिलाती है अर्थात् मृत्यु के बाद भी मोक्ष सुनिश्चित है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में सांख्य योग नामक
द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ।
ॐ तत् सत्